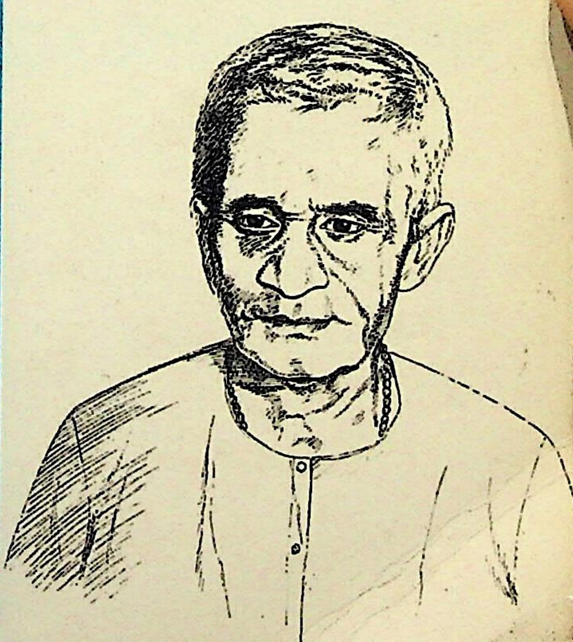
लक्ष्मीनारायण मिश्र

जयशंकर त्रिपाठी



भारतीय
साहित्य के
निर्माता

लक्ष्मीनारायण मिश्र

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरवार का वह दृश्य जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

लक्ष्मीनारायण मिश्र

जयशंकर त्रिपाठी

साहित्य अकादेमी

Laxminarayan Mishra : Monograph in Hindi, written by Jai Shankar Tripathi on Modern Hindi Playwright, Sahitya Akademi, New Delhi (1999) Rs. 25

प्रथम संस्करण : 1999

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23 ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053

304-305, अन्ना सलाई तेनामपेट, चेन्नई 600 018

एडीए रंगमन्दिर, जे. सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

ISBN 81-260-0508-4

मूल्य : 25 रुपये

शब्द संयोजक : क्वालिटी प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली 110 093

मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110 032

विषय-सूची

1
जीवन-वृत्त

हिन्दी-नाटक-साहित्य के महान् रचनाकार पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र का जन्म पौष शुक्ल 1, संवत् 1960 (तदनुसार 18 दिसम्बर 1903 ई.) को हुआ। आपकी जन्मभूमि पूर्वी उत्तर प्रदेश में आज़मगढ़ ज़िले का बस्ती गाँव (वर्तमान मऊ जनपद) है। इस जनपद का नाम आज़मगढ़ मुस्लिम-काल की बात है, नहीं तो यह भूमि जो पवित्र गंगा तथा सरयू नदियों की अन्तर्वेदी है कभी ऋषियों के यज्ञ तथा वेदपाठ से गूँजती थी। शास्त्रों के पठन-पाठन तथा ज्ञान के चिन्तन की परम्परा यहाँ निरन्तर रही। गौतम बुद्ध (ईसापूर्व पाँचवीं शती) ने सारनाथ में अपना पहला उपदेश देने के बाद इसी भूमि से होकर अपने उपदेशों का प्रचार करते हुए श्रावस्ती की ओर गमन किया था। *नैषधीय चरित* के रचयिता संस्कृत के प्रखर कवि और महापण्डित श्रीहर्ष की जन्मभूमि भी यही अन्तर्वेदी है। वर्तमान में हिन्दी के गौरव महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा श्यामनारायण पाण्डेय जैसे यशस्वी कवियों का जन्म भी इसी भूमि में हुआ। *नूरजहाँ* महाकाव्य के प्रणेता गुरुभक्त सिंह 'भक्त' का कर्मक्षेत्र भी यह भूमि रही है।

मिश्र जी ऋषि वशिष्ठ के गोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मण हैं। आस्पद बढ़निया मिश्र है। पिता का नाम श्री कमलाप्रसाद मिश्र तथा माता का नाम श्रीमती सहोदरा देवी था। मिश्र जी के पूर्वज सामन्त रहे तथा अपने स्वाभिमान और परम्परा की रक्षा के लिए शासकों से टक्कर लेते रहे। मिश्र जी के पूर्वज योगी मिश्र से रउतार मुसलिम जागीरदार की मित्रता रही। योगी मिश्र के छोटे पुत्र अनूप मिश्र ने वर्तमान बस्ती गाँव में उस समय अपना मिट्टी का क़िला बनाया और उसे चारों

ओर कटबाँसियों से सुरक्षित किया। उसे आज भी कोट कहते हैं। अँग्रेज़ी शासनकाल में इनसे कर वसूल करने में अहलकारों को कठिनाई होती थी, आज़मगढ़ गजेटियर में इसका उल्लेख है—"ये लोग बहुत लड़ाकू प्रकृति के हैं। इन लोगों ने मिट्टी का क़िला बना लिया है और कठिनाई से कर देते हैं।" अनूप मिश्र से छठी पीढ़ी में लक्ष्मीनारायण मिश्र का जन्म हुआ।

मिश्र जी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव तथा घोसी के मिडिल स्कूल में हुई। इसके बाद पिता जी ने अँग्रेज़ी शिक्षा के लिए इलाहाबाद के मॉडर्न हाईस्कूल में इनका नाम लिखाया, किन्तु मिश्र जी का मन यहाँ नहीं लगा और एक वर्ष बाद वे वहाँ से चले आये। 1919 ई. की जुलाई में काशी के सेण्ट्रल स्कूल में इनका नाम सातवीं कक्षा में लिखा गया। मिश्र जी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी. ए. तक की शिक्षा प्राप्त की। पिताजी की इच्छा पुत्र को पीसीएस अधिकारी के रूप में देखने की थी, लेकिन महात्मा गाँधी का असहयोग आन्दोलन तथा काशी में साहित्यकारों का साहचर्य—दो स्थितियों ने मिश्र जी को राष्ट्रीय विचारों की ओर मोड़ दिया। अपनी व्युत्पन्न प्रतिभा के कारण वे छात्र-जीवन में ही काव्य तथा नाटक लिखने में सफल हुए, उनकी उस समय की रचनाएँ *अन्तर्जगत्* (कविता) तथा *अशोक* नाटक हिन्दी-जगत् में चर्चा के विषय रहे। *अशोक* नाटक पाठ्यक्रम में भी रहा। काशी में रहते हुए मिश्र जी का परिचय तथा मित्रता समसामयिक साहित्यकारों से होती रही। वे जयशंकर 'प्रसाद', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', प्रेमचन्द, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, निराला, रामवृक्ष बेनीपुरी, पं. कमलापति त्रिपाठी के सान्निध्य में आये। हिन्दी-जगत् में उस समय के युवा लेखक विनोदशंकर व्यास, जगन्नाथ शर्मा, दुर्गादत्त त्रिपाठी, जर्नादन प्रसाद झा 'द्विज' मिश्र जी के सहपाठियों में थे।

मिश्र जी ने 1929 ई. में विधिशास्त्र (कानून) का अध्ययन करने के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में नाम लिखाया। लेकिन 1930 ई. में पिताजी का देहान्त हो जाने से उनकी कानून की पढ़ाई छूट गयी। 1929 से 1934 के बीच उन्होंने अपने प्रसिद्ध सामाजिक नाटकों की रचना की। *राजयोग* और *सिन्दूर की होली* को उन्होंने काशी में लिखा, और इनका प्रकाशन श्री रायकृष्ण दास के भारती-भण्डार से हुआ। *सिन्दूर की होली* की भूमिका डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी ने तथा *राजयोग* की भूमिका डॉ. अमरनाथ झा ने लिखी थी। दोनों ही व्यक्ति इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रख्यात विद्वानों में थे। मिश्र जी ने इन्हीं दिनों कर्ण पर आधारित महांकाव्य *कालजयी* की रचना का आरम्भ भी किया। वे इलाहाबाद में रहते हुए उस समय की प्रख्यात राष्ट्रीय संस्था *हिन्दी साहित्य सम्मेलन*, प्रयाग

से भी बराबर सम्बद्ध रहे। आगे चलकर उन्होंने सम्मेलन के साहित्य मन्त्री तथा अध्यक्ष का पदभार भी ग्रहण किया।

1934 ई. में मिश्र जी पारिवारिक संकटों में पड़ गये। इसी वर्ष उनके छोटे भाई गिरिजाशंकर मिश्र की हत्या शत्रुओं ने रात में कर दी, जब वे घर के बरामदे में बाहर सोये हुए थे। तथा जनवरी 1936 में उनकी पत्नी श्रीमती रामदुलारी दिवंगत हो गयीं। सन् 1941-42 में वे स्वयं भी बहुत अस्वस्थ हो गये। इन आपदाओं के कारण मिश्र जी ने आठ वर्ष तक लिखने के लिए क़लम नहीं उठायी।

अगस्त सन् 1942 में 'अंग्रेज़ो भारत छोड़ो' आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था। देश के सभी राष्ट्रीय नेता तथा कार्यकर्त्ता गिरफ़्तार हो रहे थे। मिश्र जी अपनी बीमारी—सम्भवतः राजयक्ष्मा के इलाज के लिए किंग जार्ज मेडिकल कॉलेज लखनऊ में भरती थे। वहाँ से मुक्त होकर वे काशी आये। उसी समय (सन् 1943 में) काशी में एक साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन हुआ और उसमें मिश्र जी को सम्मानित किया गया। दूसरे दिन आज में वह समाचार प्रकाशित हुआ, समाचार का शीर्षक था—'पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र के सम्मान में साहित्यकारों की गोष्ठी।' सरकार के खुफ़िया विभाग ने इस गोष्ठी का कुछ और ही आकलन किया, जिसके फलस्वरूप काशी में शासन ने कुछ लोगों को गिरफ़्तार किया। मिश्र जी अपने गाँव चले गये थे, लेकिन खुफ़िया विभाग की सूचना और संकेत पर भारत रक्षा-नियम धारा 129 के तहत मिश्र जी को उनके गाँव बस्ती में गिरफ़्तार कर लिया गया, उनके ऊपर विदेशी सम्पर्क से सरकार के विरुद्ध साजिश करने का आरोप था। उनको जानकारी हासिल करने के लिए यातनाएँ दी गयीं और जेल भेज दिया गया।

जेल से छूटने के बाद मिश्र जी को अपने बच्चों की पढ़ाई की चिन्ता हुई। वे 1944 में अपने तीन पुत्रों—विश्वम्भरनाथ मिश्र, हरीन्द्रनाथ मिश्र, रवीन्द्रनाथ मिश्र तथा भतीजे प्रभातकुसुम को लेकर प्रयाग चले आये और बच्चों की पढ़ाई की व्यवस्था की, तब से वे निरन्तर प्रयाग में ही रहे, सन् 1968 में जब वाराणसी की गुरुधाम कालोनी में अपने भवन शारदापीठ का निर्माण कराया, तब से वे प्रयाग छोड़कर वाराणसी तथा आज़मगढ़ में रहने लगे।

1945 ई. से मिश्र जी का मन पुनः साहित्य-रचना की ओर प्रवृत्त हुआ। 1945 में *गरुड़ध्वज* तथा 1946 में *नारद की वीणा* नाटकों की रचना की। एवं अपने महाकाव्य *(कालजयी)* को भी पूरा करने में दत्तचित्त हुए। इस समय देश में आज़ादी का आन्दोलन अपनी सिद्धि की ओर अग्रसर था, अंग्रेज़ों का भारत छोड़ने का निश्चय उजागर हो चला था। दूसरी ओर हिन्दी के रचनाकारों पर विदेशी

साहित्य-रचना का प्रभाव बढ़ता जा रहा था, हिन्दी के अनेक कवि, कथाकार और लेखक 1940 से ही शीघ्र से शीघ्र और सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए पश्चिमी साहित्य का अन्ध-अनुसरण कर रहे थे। इस स्थिति में मिश्र जी ने साहित्य के रचना-क्षेत्र में सजग होकर भारतीय साहित्य-भूमि पर दृढ़ खड़े रखने का संकल्प पुनः दुहराया और अपने सांस्कृतिक नाटकों में, जो पुराण या इतिहास की कथा पर लिखे गये हैं, इस संकल्प को साकार किया। आज़ादी के साथ हिन्दी के अथवा सभी भारतीय भाषाओं के रचनाकारों में एक तरह की कुण्ठा, विषाद तथा अनजाने अभाव की भावना घर करती गयी, जिसके फलस्वरूप देश के अतीत के महान् रचनाकारों एवं चिन्तकों को वे हेय दृष्टि से भी देखने लगे। वर्तमान प्रजातन्त्र के शासकों को भी अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया, जो कि अनुचित था, क्योंकि प्रजातन्त्र राज्य में जो यह समझता है कि प्रजातन्त्र के मुखिया को हटाकर स्वयं मुखिया बने, संविधान इसकी पूरी छूट देता है। किन्तु रचनाकारों ने अपनी अक्षमता को निज की कुण्ठा तथा दूसरे की आलोचना के रूप में व्यक्त किया। अतीत के अमर रचनाकारों को भी नगण्य समझा। साहित्य-जगत् की ऐसी आपाधापी तथा कुण्ठित मनोवृत्ति से संत्रस्त वातावरण में मिश्र जी अपनी परम्परा तथा उसकी राष्ट्रीय अस्मिता से तनिक भी विचलित नहीं हुए, उन्होंने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को अपना आदर्श माना। समय-समय पर अपने व्याख्यानों में भी उन्होंने परम्परा की अस्मिता की रक्षा के लिए रचनाकारों का आह्वान किया।

इसका एक ज़बर्दस्त कारण यह भी था, मिश्र जी ने पश्चिम के यूरोपीय साहित्य का गहन अध्ययन किया था, इस अध्ययन से उन्होंने उसकी कमज़ोरियों और उसके खोखलेपन को समझा, फलस्वरूप भारतीय साहित्य और उसकी साधना के आदर्शों के प्रति उनकी आस्था निरन्तर दृढ़ होती गयी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के बम्बई अधिवेशन संवत् 2006 (1949 ई.) की साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष मिश्र जी थे। उन्होंने उस पद से साहित्य, भारतीय साहित्य, जीवन की मीमांसा तथा कवि-कर्म पर अपना सारभूत विस्तृत व्याख्यान दिया था, जिसकी चर्चा हिन्दी-जगत् में हुई। यह व्याख्यान पहले से लिखित तथा प्रकाशित था, लेकिन मिश्र जी वैसे भी तत्काल सभा में बोलनेवाले पटु वक्ता थे। 22 दिसम्बर 1959 से 10 जनवरी 1960 तक मिश्र जी भारत सरकार के केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय की ओर से बम्बई राज्य की भाषण-यात्रा पर गये थे। उन्होंने राजकोट, द्वारका, भावनगर, अहमदाबाद, बड़ौदा, सूरत, मुम्बई, पुणे तथा नागपुर में व्याख्यान देते हुए अपनी साहित्यिक यात्रा समाप्त की थी। नागपुर में नागपुर उच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश श्री नियोगी की अध्यक्षता

में मिश्र जी का भाषण हुआ था, उस भाषण के प्रसंग में मिश्र जी ने शेक्सपीयर के नाटकों के अध्ययन किये जाने की जैसी प्रखर आलोचना की और उसे ही गाँधी की हत्या का कारण बताया, इससे उसको छापने में अख़बारवालों को भी भय मालूम हुआ।

मिश्र जी का एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान 1961 में वाराणसी में उत्तरप्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में हुआ। इस लिखित भाषण की कई बातें हिन्दी साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्रमाणित हुई हैं। मिश्र जी का यह भाषण पाश्चात्य और भारतीय साहित्य के सर्जना-पक्ष के परस्पर विपरीत दृष्टिकोणों की मीमांसा है। मिश्र जी ने उसमें कहा है कि पश्चिम का कवि-कर्म प्रचारात्मक तथा सामाजिक संगठन के परिवर्तन मात्र के लिए है, उस साहित्य से जीवन को आनन्द और अमृत की प्रेरणा नहीं मिल सकती, जिसकी सतत् आवश्यकता गतिमान् जीवन के लिए है और जो देही के मूल भाव की सहज प्रकृति है। मिश्र जी गोस्वामी तुलसीदास की तरह संसार को गुण-दोषमय मानते थे—

जड़ चेतन गुन-दोषमय, विश्व कीन्ह कर्तार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार।।

इसके साथ ही वे गीता का यह श्लोक भी प्रायः कहा करते थे—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।

संसार में सहज कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए वह भले ही दोषयुक्त हो, संसार के सारे आरम्भ उसी प्रकार कहीं-न-कहीं दोष से संपृक्त होते हैं, जैसे आग का जलना धुएँ के साथ होता है।

इसी प्रकार मिश्र जी साहित्य की रचना को सहज भूमि में सहजभाव से सहज शब्दों में अनासक्त रह कर की गयी विधाता की सृष्टि मानते थे। छायावादी और विदेशी-अन्धानुकृत हिन्दी काव्य की आकाशीय कल्पना को, जिसका कोई धरातल नहीं है, मिश्र जी ने ऐसा काव्य स्वीकार किया है, जिसको पढ़कर देश की नयी पीढ़ी कुण्ठित, कायर तथा दिशा-हीन हो जायेगी।

मिश्र जी ने प्रयाग में अपना स्थायी निवास नहीं बनाया, वाराणसी में ही शारदापीठ नाम से निजी भवन का निर्माण करवाया। 1968 ई. से वे प्रयाग छोड़कर वाराणसी चले गये। 1980 ई. तक बराबर साहित्य के क्षेत्र में क्रिया-तत्पर रहे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि वे *कालजयी* महाकाव्य का शेष अंश पूरा कर दें, जिससे उसका प्रकाशन शीघ्र किया जा सके। इसी प्रसंग में उन्होंने पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी से आग्रह कर इस महाकाव्य भी भूमिका भी लिखाई। चतुर्वेदी जी मिश्र जी

को उच्च कोटि का नाटककार मानते थे, मिश्र जी के *गरुड़ध्वज* नाटक की भूमिका लिखते हुए चतुर्वेदी ने अपना यह उद्‌गार प्रकट किया है। भूमिका लिखे जाने के बाद भी महाकाव्य का शेष अंश मिश्र जी पूरा न कर सके। 19 अगस्त 1987 को 84 वर्ष की आयु में वाराणसी के अपने निवास पर उनका देहावसान हो गया।

मिश्र जी का निधन हिन्दी साहित्य की अपूरणीय क्षति है। भारतभूमि और उसके साहित्य की अस्मिता की बात करनेवाला अब उनके जैसा प्रखर वक्ता नहीं रहा। साहित्य के क्षेत्र में कृत्रिमतापूर्ण तथा मनगढ़न्त रचना का तिरस्कार कर भारतीय संस्कृति, परम्परा और सहज भाव-बोध की रचना की आवाज़ उन्होंने बुलन्द की। छायावाद का उसके चरम उत्कर्ष के समय ही उन्होंने विरोध किया, तथा भारतीय साहित्य की जिज्ञासा में अपने सिद्धान्त के अनुसार उत्कृष्ट साहित्य की रचना की।

यह प्रसन्नता की बात है कि मिश्र जी के बड़े पुत्र श्री विश्वम्भरनाथ मिश्र ने, जो आज़मगढ़ के जाने-माने एडवोकेट हैं, पिता जी की समस्त रचनाओं का ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित कराये जाने का निश्चय किया। वह निश्चय साकार हुआ है, और वाराणसी से छह खण्डों में मिश्र जी की रचनावली का प्रकाशन सम्पन्न हो गया है। उसका पहला खण्ड चिरप्रतीक्षित *कालजयी* महाकाव्य है। महाकाव्य अधूरा है, इसके अधूरा रहने की घटना भी कवि की राष्ट्रीय संवेदना है। 30 जनवरी 1948 को मिश्र जी महात्मा गाँधी की हत्या से इतने आहत हुए कि महाकाव्य की रचना से विराम ले लिया, उसको जिस पंक्ति तक लिखा था, वहीं छोड़ दिया। तब से वह रचना अधूरी रही। अधूरी रचना के प्रकाशन के लिए भी प्रकाशक लालायित थे, किन्तु मिश्र जी ने स्वीकार नहीं किया। यह एक विचित्र संयोग ही कहिए कि मिश्र जी उसे पूरा नहीं कर सके, जब वे नहीं रहे, तब उसका प्रकाशन भी हुआ।

2

आधुनिक हिन्दी-नाटक के जनक

आधुनिक हिन्दी-गद्य का उदय नाटक-रचना के क्षितिज से ही होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है—"विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-साहित्य का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।" सच में देखा जाये तो राजा लक्ष्मण सिंह का *शकुन्तला* नाटक (अनुवाद 1863) में तथा भारतेन्दु के नाटकों (1873-1883 ई.) में प्रयुक्त हिन्दी ही बाद में परिनिष्ठित हिन्दी का स्वरूप है।

हिन्दी-नाटक के दो युग

हिन्दी का नाटक-साहित्य, जिसका इतिहास सवा सौ वर्षों का है, उसके दो गोड़ हैं, वह दो युगों में विभाजित है। एक युग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाटक-रचनाओं से आरम्भ होता है और 'प्रसाद' की नाट्य-रचनाओं के साथ उस युग की समाप्ति हो जाती है। 'प्रसाद' की नाट्य-रचनाओं का कोई अलग युग नहीं है। न ही उसको 'भारतेन्दु-युग' से अलग कर देखा जाना चाहिए, वह नाटकीय रचनाओं से अधिक काव्यात्मक प्रबन्ध हैं और उनका नाट्यशिल्प हिन्दी का अपना नहीं है। समग्र रूप से वह अंग्रेज़ी के नाटककार शेक्सपीयर के नाट्यशिल्प की प्रतिच्छाया है। हिन्दी का नाट्यशिल्प भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है और यह इसलिए कि वह सीधे संस्कृत नाट्य-रचना के विधानों को अपनाये हुए है। संस्कृत-नाटक का अर्थ हुआ, इस देश की नाटक-रचना का विधान। प्रसाद की नाट्य-रचनाओं की शिल्प-निर्मिति न तो भारतीय है, न उसकी अपनी कोई प्रकल्पना है, वह पूर्ण रूप से शेक्सपीयर की

नकल है, अतः उनकी नाट्य-रचनाओं को भारतेन्दु-युग की सीमा का विस्तार कहा जाना चाहिए। और यह सीमा सन् 1925 तक जाती है। इसके बाद हिन्दी-नाटक-रचना का दूसरा युग आता है, जिसके प्रतिष्ठाता हैं—पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र। मिश्र जी ने हिन्दी-नाटक को जो नया शिल्प प्रदान किया, वह समग्ररूप से परम्परा-प्राप्त नाट्यशिल्प नहीं है उसमें साहित्य की नयी संक्रान्ति ने नूतन कायाकल्प किया है, और इसी कारण पहली बार मिश्र जी के नाटकों में हिन्दी भाषा के अपने नाट्य-शिल्प का दर्शन होता है। सन् 1929 से 1935 की अवधि में अपनी नूतन विधा में रचे गये मिश्र जी के प्रसिद्धि-प्राप्त नाटक हैं—*संन्यासी, राजयोग, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली, आधी रात। संन्यासी* की रचना 1929 ई. में हुई, *सिन्दूर की होली* 1934 में और *आधी रात* 1935 ई. में लिखा गया। मिश्र जी की इन नाटक-रचनाओं से हिन्दी के अभिनव नाटक-साहित्य का युग आरम्भ होता है। आगे हिन्दी के नाटककारों की नाट्य-रचनाओं में भीतरी वस्तु-विधान तो सबके अपने अलग-अलग रहे, होना भी चाहिए, पर नाटक-रचना का जो विधान और शिल्प मिश्र जी ने कल्पित किया, वह आज बीसवीं शती के अन्तिम दशक तक हिन्दी-नाटक-रचनाकारों के लिए आदर्श बना रहा।

हिन्दी-नाटक-रचना में मिश्र जी के अपूर्व योगदान को ठीक-ठीक आकलित करने के लिए हमें खड़ीबोली हिन्दी की पिछली शती की साहित्य-यात्रा का सिंहावलोकन कर लेना चाहिए। जिसमें अँग्रेज़ी-राज्य की स्थापना ने राजनीतिक उलटफेर तो किया ही, उसकी अँग्रेज़ी शिक्षा-पद्धति ने सामाजिक परिवर्तन की लहर पैदा की। इनसे अतिरिक्त एक अन्य बड़ी बात हुई, जिसने पूरे उत्तरी भारत को प्रभावित किया, वह थी हिन्दू मानसिकता में निर्भयता की भावना। अंग्रेज़ों के प्रभुत्व के कारण जिनको राज्य से हाथ धोना पड़ा उन कुछ राजाओं, ताल्लुकेदारों की बात अलग थी, अन्यथा पिछले तीन-चार सौ वर्षों से मुसलिम शासन में हिन्दुओं को जिस सामाजिक अपमान में जीवन बसर करना पड़ा था, जिसकी अभिव्यक्ति ग्रामगीतों में समय-समय पर हुई है, अँग्रेज़ी राज्य ने हिन्दुओं के उस अपमान की इतिश्री कर दी। उनका शासन सभी के लिए निर्भय जीवन का आह्वान था। भारतेन्दु काल में ही महाराणा प्रताप, शिवा जी के इतिहास को लेकर नाटकों की रचना की गयी। राधाकृष्ण दास ने *महारानी पद्मावती* तथा *महाराणा प्रताप* (अथवा राजस्थान केसरी) दो नाटक लिखे। दूसरा नाटक बहुत लोकप्रिय हुआ और उसका अनेक बार अभिनय किया गया। प्रसाद जी के नाटक, जो भारतीय इतिहास के अतीत के गौरव को लेकर लिखे गये, उस रचना के पीछे भी हिन्दुत्व के स्वाभिमान की प्रेरणा काम कर रही थी। अब अँग्रेज़ी राज्य था, मुसलिम शासन नहीं था, सभी समान रूप से अँग्रेज़ी राज्य की प्रजा थे।

पर एक नयी बात हो रही थी; यूनिवर्सिटियों की अँग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा ने सुशासित अँग्रेज़ी शासन में नवशिक्षा से शिक्षित युवकों को यूरोपीय संस्कारों की ओर लालायित किया। बंगाल में पढ़े-लिखे सम्पन्न लोगों ने ईसाई धर्म अपनाने में गौरव समझा। अंग्रेज़ शासक थे, अँग्रेज़ी राजभाषा थी, जो भी आदमी शासन में बड़प्पन का पद पाता था, यूरोपीय संस्कारों को अपनाने में और उनकी तरह जीवन जीने में एक नई रोशनी का अनुभव कर रहा था, जिसमें पोंगापन्थी नहीं थी। विशेष रूप से नारी-समाज की रूढ़ियों को तोड़ने तथा उनको जीवन की स्वतन्त्रता देने के लिए शिक्षित समाज आतुर हो रहा था। और इसमें दो मत नहीं हो सकते कि किसी भी समाज की संरचना में या कि निर्माण में आधे से अधिक हिस्सेदार नारी ही होती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य-समाज की स्थापना कर दी थी, जिसमें हमारी पुरानी मान्यताओं तथा संस्कारों ने नये कलवेर में अपनी आँखें खोल ली थीं, हमें अपने वेदों के गौरव का बोध हो रहा था। स्वामी दयानन्द ने हिन्दी को आर्य-भाषा कहकर इसे ऊँचा गौरव प्रदान किया था तथा इस हिन्दी को समूचे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा बनने का संकेत कर दिया था, अन्यथा हिन्दी अंग्रेज़ों की दृष्टि में ग्रामीण भाषा थी। इस प्रकार अँग्रेज़ी शासन की निर्भय छाया में हमारे समाज का नव जागरण एक ऐसे मोड़ पर खड़ा हो गया था, जहाँ से दो रास्ते जा रहे थे—एक था अपने जातीय बोध का परम्परा-प्राप्त इतिहास के प्रकाश से प्रदीप्त मार्ग, और दूसरा था यूरोपीय संस्कारों से अभिभूत ऐसा मार्ग, जिसमें परम्परा और जातीय बोध के कोई पड़ाव नहीं थे, हाँ नारी-स्वतन्त्रता की मीठी-*पौधशालाएँ* जिस मार्ग का नया आकर्षण थीं। यहीं से नयी सांस्कृतिक परम्परा के आरम्भ होने के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। नारी-पूजा और उसके ऊँचे स्वतन्त्र विचार जागृत समाज के लक्षण हैं। पर यहाँ नारी-स्वतन्त्रता उलटकर सांस्कृतिक परतन्त्रता का पर्याय बन रही थी। साहित्य के क्षेत्र में ऐसी सांस्कृतिक परतन्त्रता से अघोषित युद्ध करने का संकल्प जिन्होंने लिया, वे हैं पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र। बीसवीं शती के तीसरे-चौथे दशक में उन्होंने इस साहित्यिक क्रान्ति का माध्यम नाटक-रचना को बनाया, वे हिन्दी नाट्य-रचना में भारतीय बोध तथा उसके नूतन नाट्यशिल्प के प्रकल्पक हैं, भारतेन्दु के बाद हिन्दी नाटक-रचना के नये युगान्तर।

हिन्दी-नाटक-रचना में युगान्तर—मिश्र जी के सामाजिक नाटक

हिन्दी का छायावादी काव्य अँग्रज़ों की सम्प्रभुता, सुशासन और अँग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा का प्रतिफल था। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में छायावादी काव्य-रचना के लम्बे अध्याय लिखे गये हैं। पर इस धारा की काव्य-कृतियों में हमारी भूमि के वन,

धरती, सेवारों, नदियों और पहाड़ियों की तादात्म्यता के दर्शन नहीं होते। छायावादी महाकाव्य *कामायनी* पर अनेक शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं। मेरी समझ से इस महाकाव्य में भारतभूमि का कोई खण्ड अथवा उसका छायाकल्प कहीं नहीं दिखाई पड़ेगा। तथा मजे की बात यह है कि इसी तीसरे दशक में देश की आज़ादी के लिए निछावर क्रान्तिकारियों ने देश-प्रेम से ओत-प्रोत बहुत सारी कविताएँ लिखी हैं—उनमें बहुतेरी कविताएँ ब्रिटिश शासन-द्वारा जब्त भी कर ली गयी थीं, अब उनके संकलन प्रकाशित हो गये हैं। लेकिन हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने अपने ग्रन्थों में इस राष्ट्रीय काव्यधारा की चर्चा नहीं की है, कोई अध्याय नहीं लिखा है।

भारत-भूमि की पहचान से दूर ऐसी छायावादी काव्यधारा से खुला विद्रोह कर मिश्र जी ने हिन्दी की, या कि भारतीय साहित्य की जीवन-भूमि पर रचना करने का संकल्प लिया। इसकी ऊँची घोषणा उन्होंने अपने नाटकों—*संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य*—की भूमिका में की है। जिनको पढ़कर लगता है कि जब समूचा हिन्दी-जगत् अँग्रेज़ी और बाङ्ला साहित्य की चकाचौंध में अपने को अकिंचन महसूस कर रहा था, तब किसी को भारतीय साहित्य और हिन्दी साहित्य-रचना की अस्मिता का बोध तो हुआ, उसे यह लगा कि हम अकिंचन नहीं हैं, हमारी बहुत लम्बी, दीर्घकालीन तथा अत्यन्त समृद्ध साहित्य-रचना की परम्परा है, जिसमें प्रवेश कर जब कोई बाहर आता है, तब वह केवल मनुष्य होता है। अपने साहित्य की अस्मिता का यह बोध जिसको हुआ, वे हैं हमारे कवि और नाटककार पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र। उन्होंने छायावाद से विद्रोह किया और भारतीय साहित्य-रचना की अलख जगाई। *संन्यासी* नाटक का प्रकाशन मार्च 1929 में हुआ। *राक्षस का मन्दिर* और *मुक्ति का रहस्य* 1932 में प्रकाशित हुए। *राजयोग* और *सिन्दूर की होली* का प्रकाशन 1934 में हुआ। *संन्यासी* नाटक की भूमिका (अपने आलोचक मित्र से) में मिश्र जी ने भारतीय साहित्य की अमृत अस्मिता की विस्तार से चर्चा की है। अँग्रेज़ी शासन और अँग्रेज़ी-साहित्य के इस विषम संक्रान्ति काल में उन्होंने हमारा ध्यान मूल समस्या की ओर आकृष्ट करते हुए लिखा है, "युग की समस्याओं का प्रभाव सबसे पहले कवि की, नाटककार की, उपन्यासकार की या एक शब्द में रचयिता की आत्मा पर पड़ता है।" मिश्र जी के इस कथन का अर्थ यह है कि रचयिता को अपनी साहित्य-रचना में बहुत सावधान रहना चाहिए। लिखने के लिए कुछ भी लिखा जा सकता है, किन्तु लिखते समय हमारी वृत्ति इस ओर तो हो कि हम किस भाषा और किस भूमि की साहित्य-रचना कर रहे हैं। जब ऐसी वृत्ति होगी, तब उस साहित्य-रचना में उस

भूमि के जीवन की प्राण-प्रतिष्ठा अवश्य होगी अन्यथा नहीं। मनमानी रचना करना जीवन के साथ खिलवाड़ करना है। आलोचकों ने इसे मिश्र जी का बुद्धिवाद कहा। *मुक्ति का रहस्य* नाटक की भूमिका में उन्होंने इसका उत्तर दिया है कि 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ?'

यहाँ थोड़ा इस बात को स्पष्ट कर दिया जाये कि मिश्र जी ने अपने इन नाटकों में वर्तमान देश-काल के पात्रों से ही कथावस्तु का निर्माण किया है। आज के समाज में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध तथा विवाह की जीवन-विधि की परम्परागत मान्यता का उच्छेद ब्रिटिश शासन में उसके अंग्रेज़ी साहित्य के पठन-पाठन के कारण तीव्र गति से हो रहा था, विवाह जैसा महत्त्वपूर्ण संस्कार केवल प्रणय का भुलावा बन गया था। मिश्र जी ने अपने नाटकों की कथावस्तु में समकाल में पाये जानेवाले पात्रों को लेकर नर-नारी की काम-समस्या का चिन्तन चिरन्तन काम-समस्या के रूप में अपनी भारतीय परम्परा में किया है, जिस भारतीय परम्परा की जीवन-विधि को मनु ने संसार के सर्वश्रेष्ठ जीवन का आदर्श कहा था। मिश्र जी ने *मुक्ति का रहस्य* की भूमिका में लिखा—"बुद्धिवाद हमारे यहाँ कोई नई चीज़ नहीं है। हमारे संस्कार का आधार भी बुद्धिवाद या विवेक-जनित प्रवृत्ति है।" आगे वे अपने कथन को विस्तार देते हुए कहते हैं—"प्रतिभा की सफलता जीवन-बल के अनुसार नापी जाती है। कला के अपूर्व यन्त्र से जीवन को जगा देना ही कला है। अपने भीतरी विकारों और वासनाओं को सजाकर साहित्य को स्वर्ग बना देना गन्दा है। नैतिक महत्त्व अनुभव करने और संयम बरतने में है। प्रेम के नाम पर साहित्य में जो देखने को मिल रहा है वह प्रेम की हत्या और वासना का नृत्य है। हमारे लेखक प्रेमी और प्रेमिका को पकड़ कर साहित्य की सड़क में नंगा छोड़ देते हैं। प्रेम के लम्बे-लम्बे व्याख्यान झाड़े जाते हैं, हँसना-रोना बहुत होता है, असंगत और असम्भव का विचार नहीं रहता। सब कुछ होता है, लेकिन वह नहीं होता, जिसे जीवन कहते हैं।"

मुक्ति का रहस्य उत्कृष्ट नाटक है—रंगमंच की दृष्टि से भी और नाटकीय कथावस्तु के संयोजन की मार्मिकता से भी। नाटक तीन अंक का है, पात्रों की संख्या कुल आठ है, स्त्री पात्र एक है। तीन अंकों में उसके दृश्य-विधान का स्थल एक कमरा मात्र है। तीन अंकों में उसके दृश्य अवश्य बदलते रहते हैं अर्थात् एक स्थल और तीन दृश्य। संवाद बहुत छोटे, सरल, स्वाभाविक सामान्य बातचीत की शैली में हैं, किन्तु मार्मिक हैं। नाटक में उमाशंकर शर्मा तथा डाक्टर त्रिभुवननाथ की प्रेम-पात्र आशा देवी है। इन तीनों को केन्द्र में रखकर ही नाटक की कहानी संघटित होती रहती है। डॉक्टर त्रिभुवननाथ उमाशंकर का मित्र है। उमाशंकर

शर्मा राष्ट्रीय सत्याग्रह में भाग लेनेवाले युवक हैं, इन्होंने गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित होकर अपनी डिप्टी कलेक्टरी की नौकरी को लात मार दिया। घर के जमींदार हैं, पत्नी की रहस्यमय मृत्यु हो गयी है, जिसके पीछे आशादेवी का प्रेम है। उनको पत्नी से आठ वर्ष का पुत्र है। डॉक्टर त्रिभुवननाथ अविवाहित है वह भी आशादेवी से प्रेम करता है। नाटक की कहानी वहाँ से शुरू होती है, जहाँ आशादेवी उमाशंकर से निराश होने लगती है, नाटककार के शब्दों में उसे मनुष्य की, पुरुष की ज़रूरत थी, उमाशंकर देवता हैं। उसने उनको प्राप्त करने के लिए उनकी पत्नी को जो ज़हर दिया, अब उस पाप के प्रायश्चित में स्वयं भी ज़हर खाकर मर जाना चाहती है। यह ज़हर उसको डॉक्टर त्रिभुवननाथ से मिला था, अभी भी उसके पास शेष बचा था। उमाशंकर बड़ी संवेदना से उसकी सेवा में तत्पर हैं। पर जब एक दिन में ही आशा देवी स्वस्थ हो गयी, तब उसने अपना मन्तव्य उमाशंकर से प्रकट कर दिया कि अब वह डॉक्टर त्रिभुवननाथ की अर्धांगिनी बनकर जीवन व्यतीत करेगी, वह शर्मा से कहती है—''तुम मेरे उपास्य देव हो...तुम्हें छूने का भी अधिकार मुझे नहीं है और फिर मैं डॉक्टर से प्रेम करने लगी हूँ। मेरे लिए वही पहले पुरुष...। तुम पवित्र हो गंगा से भी बढ़कर, क्षमा करो, आशीर्वाद दो। हम दोनों के हृदय से पाप निकल जाये। और हम लोग साथ-साथ हम दोनों का जीवन एक...।'' नाटक का प्रथम दृश्य स्थल तो वही है, उसकी मंज़िल दूसरी हो गयी। तथा मनोराग, यह न कहिए कि स्थानान्तरित हो गया, एकदम उलट गया। दर्शक इस चमत्कृत दृश्य को देखकर आहत-भी होता है, भाव-मग्न भी होता है और उसकी बुद्धि सत्यासत्य का विवेक करने के लिए भाव के सागर में गोते लगाने लगती है। भरत के रस-सिद्धान्त में बुद्धिवाद का यह साधारणीकरण पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र की भारतीय नाट्य-संरचना को नयी देन है। अब तक केवल भावों का साधारणीकरण माना जाता रहा। समझता हूँ कि इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि मिश्र जी के बुद्धिवादी होने का अर्थ क्या है ? कोरी भावुकता और कल्पना से हटकर जीवन और उसके सत्य की प्रतिष्ठा है, जहाँ रचनाकार पात्रों को गढ़ता नहीं है, पात्रों को लेकर अपनी कथा का विन्यास करता है। मिश्र जी के नाटक के पात्र ऐसे ही हैं। 'प्रेमचन्द' के चरित्रों की तरह उनके मूल में ही क्रान्ति नहीं है। क्रान्ति है उनके अन्त में।

छायावादी काव्य के जन्म और अवधारणा के पीछे हिन्दी की युवापीढ़ी के रचनाकारों की यह भावना कहीं न कहीं काम कर रही थी कि हमारी रचनाएँ अंग्रेज़ी के शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ की रचनाओं के आदर्श पर होनी चाहिए, आख़िर कुछ भी हो, अँग्रेज़ी के ये कवि विश्व में महान् अँग्रेज़ी सम्प्रभुता की देन

हैं, उनकी तुलना में कालिदास या वाल्मीकि पुराने खण्डहरों की याद दिलाते हैं, यह बात 1930 के आसपास तो रचनाकारों के मन में ही थी, पर 1940 के बाद स्पष्ट रूप से हिन्दी के कुछ कवियों ने भारतभूमि के विधाता वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास को अत्यन्त अवज्ञा और हताशा के साथ उलाहना-पूर्वक उद्धृत किया है। यह सब अँग्रेज़ी-साहित्य की गुलामी की पहचान है, छायावादी काव्य की धारा जिस मानसून से बह रही थी उसको देखकर हिन्दी कविता के भविष्य का अन्धकार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने सन् 1929 में ही अनुमान कर लिया था, उन्होंने *संन्यासी* नाटक की भूमिका में लिखा है—"ये कहते हैं कि संसार की सभ्यता की रक्षा गोरी जातियाँ ही कर सकती है। कुमारी मेयो की मदर इण्डिया क्या इस पृथ्वी पर नरक नहीं है। इनके विचारों में रंगीन जातियाँ जन्म और रक्त से ही गोरी जातियों से हीन है—न तो वे किसी सभ्यता का निर्माण कर सकती हैं न उसकी रक्षा। गोरी जातियों को संसार के हित के लिए इनका नियन्त्रण करना चाहिए। इनके अनुसार हम कुली हैं, जंगली हैं, असभ्य हैं।"

अँग्रेज़ी साहित्य की ललक में बाङ्ला के द्विजेन्द्रलाल राय के माध्यम से शेक्सपीयर के नाटकों का आदर्श हिन्दी में अवतरित हुआ। प्रसाद जी का नाट्य-शिल्प और आन्तरिक वस्तुयोजना उसी आदर्श पर प्रकल्पित हैं। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का क्या प्रभाव हिन्दी रचनाकारों पर पड़ा, इसका एक विवरण मिश्र जी ने *मुक्ति का रहस्य* की भूमिका में दिया है—"द्विजेन्द्र के अनुवाद जब से हिन्दी में प्रकाशित हुए स्वर्गीय बाबू हरिश्चन्द्र के नाटकों को बच्चों का खिलवाड़ कहकर हमारे साहित्यकारों ने दूर फेंक दिया। द्विजेन्द्र का शब्दों और वाक्यों का तूफान नाट्यकला का आदर्श बन बैठा। और जहाँ देखिए हिन्दी के सब नाटकों में वही द्विजेन्द्र वाली बनावटी भाषा और बनावटी भावुकता, सुख, दुःख, प्रेम, घृणा, जय और पराजय के झूठे चित्र बनने लगे। कुछ लोगों को इस बात का खेद है कि हिन्दी में द्विजेन्द्र की कोटि का नाटककार अभी पैदा नहीं हुआ—मेरा कहना यह है कि द्विजेन्द्र की कोटि तो शेक्सपीयर की कोटि थी। इस बंगाली नाटककार की आत्मा के ऊपर शेक्सपीयर का भूत आसन जमाये बैठा था। द्विजेन्द्र की मिथ्या भावुकता और रोमान्स की गन्दगी की ओर से आँखें फेरकर हमें स्वतन्त्र और व्यक्तिगत साधना की ओर झुकना चाहिए, अगर हमें निर्माण करना है तो।"

सिद्धान्त की यह बात मिश्र जी ने अपने नाटकों की भूमिका में केवल लिखा ही नहीं, अपनी रचनाओं में उसे निभाया है, उनकी नाट्य-रचनाओं में (सामाजिक समस्यात्मक नाटकों और बाद के ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटकों में) भारतीय साहित्य की अस्मिता और शक्ति के दर्शन होते हैं। मिश्र जी की इस रचना-क्षमता

को तथा छायावादी रचना-आदर्शों को सर्वथा नकार देने की उनकी दृढ़ता को बड़ी स्पृहा से देखा गया और उनके साहस की प्रशंसा की गयी। प्रसिद्ध समालोचक डॉ. देवराज उपाध्याय ने लिखा है–"आज जब हम हिन्दी के अन्य नाटककारों की रचना को देखते हैं तो यही कहना पड़ता है कि मिश्र जी ने हिन्दी नाटकों को जिस स्थान पर लाकर छोड़ दिया था, वह वहीं पर ज्यों का त्यों है। हिन्दी नाटक-साहित्य में चाहे जो कुछ घटना घटे, पर एक बात नहीं होगी, वह यह कि प्रसाद के रोमांटिक कल्पना-प्रधान नाटकों के दिन लद गये। उन्हें फिर से पुनर्जीवित करनेवाला नाटककार सचमुच बड़ा साहसी होगा ! इसका श्रेय मिश्र जी को है। भविष्य में जो भी नाटक हिन्दी में लिखे जाएँगे, उनकी रचना मिश्र जी की पद्धति पर होगी या उसी का कोई विकसित रूप होगा।" (*सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ* में डॉ. देवराज उपाध्याय का लेख।) (लक्ष्मीनारायण मिश्र की नाट्यकला, पृष्ठ 340-41)

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने अपने एक लम्बे लेख में मिश्र जी के नाटक *गरुड़ध्वज* की समीक्षा की है। उस समीक्षा के प्रसंग में उन्होंने लिखा है–"श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी के कुशल नाटककार हैं। उनके नाटकों में तीन बातों से मैं विशेष प्रभावित हुआ हूँ। उनकी टेकनीक, भाषा, शैली, सांस्कृतिक अनुशीलन। उनकी टेकनीक पर हिन्दी-साहित्य को गर्व हो सकता है, है भी। हिन्दी नाटककारों में सम्भवतः वे पहले थे, जिन्होंने अपने रंगमंच को पारसी थियेटर की बेमिसाल, अस्वाभाविक कथोपकथन प्रधान और वाणी-बहुल परम्परा से सर्वथा मुक्त कर दिया। इस परम्परा से, भूलना न चाहिए, प्रसाद जी के कोटि तक का साहित्यकार मुक्त न हो सका। मिश्र जी ने यदि इतना ही कर दिया होता तो मैं उनका अभिनन्दन करता। परन्तु इसके अतिरिक्त भी अनेक अंशों में उनकी सफलता सराहनीय है। सब से महत्त्व की बात तो उनके नाटकों की रंगमंचीय सार्थकता है। यह गौण विषय नहीं है, इसे भली प्रकार समझ लेना चाहिए। मैं इससे अनभिज्ञ नहीं कि हिन्दी और यूरोपीय भाषाओं में भी अनाटकीय तथा केवल साहित्यिक नाटक लिखे गये हैं, जिनका महत्त्व मुख्यतया रंगमंच से पृथक् पाठक के अध्ययन-कक्ष में है। इसी प्रकार के सक्षम नाटककार स्वर्गीय प्रसाद जी हैं। उनके नाटक साधारणतया खेलने के अयोग्य सिद्ध हुए हैं, यद्यपि उनकी साहित्यिक सफलता असंदिग्ध और उच्चकोटि की है।...और नाटकों की मैं केवल एक महिमा, एक उपादेयता मानता हूँ–उनकी रंगमंचीय सफलता, उनका सुकर प्रसाद गुण और प्रसादन शैली। यदि नाटक का अर्थ मनोरंजन और जन-ज्ञापन अथवा जनकल्याण है तो उसका सरल होना और आसानी से खेला जा सकना आवश्यक होगा। इस

कसौटी पर जहाँ मिश्र जी के नाटक नब्बे प्रतिशत सही उतरते हैं, प्रसाद जी केवल दस प्रतिशत। और इस अर्थ में वे प्रसाद जी से कहीं अधिक सफल सिद्ध हुए हैं।'' (*कसौटी पर,* पृष्ठ 148-49)

भगवतशरण उपाध्याय द्वारा यह समीक्षा लिखने के सम्भवतः 12 वर्ष पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के *हिन्दी साहित्य का इतिहास* का जो संस्करण प्रकाशित हुआ था, उसमें भी 'प्रसाद' और 'प्रेमी' के नाटकों की भरपूर प्रशंसा तो ज़रूर की गयी, लेकिन लक्ष्मीनारायण मिश्र को हिन्दी-नाटक की नयी शैली का प्रवर्तक कहा गया है, और उसकी विशेषताएँ रेखांकित की गयी हैं, यद्यपि यह बात है कि शुक्ल जी ने नाटकों के इस स्वरूप को यूरोप से लाया हुआ बताया है—''नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायण जी योरप से लाये हैं उसमें काव्यत्व का अवयव भरसक नहीं आने पाया है। उनके नाटकों में न चित्रमय और भावुकता से लदे भाषण हैं, न गीत या कविताएँ। खरी बात कहने का जोश कहीं-कहीं अवश्य है। उस प्रणाली पर उन्होंने कई नाटक लिखे, जैसे *मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली, राक्षस का मन्दिर, आधी रात*।'' (*हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृष्ठ 302, इकतीसवाँ संस्करण, संवत् 2053)

यह बात सत्य है कि मिश्र जी ने अपने नाटकों का जो नया शिल्प और नूतन स्वरूप प्रकल्पित किया उस निर्धारण में अँग्रेज़ी के इब्सन तथा बर्नार्डशा के नाटकों के अध्ययन-मनन की प्रतिक्रिया का योगदान है। यह बात मिश्र जी के *संन्यासी* नाटक की भूमिका से भली-भाँति प्रकट है। मिश्र जी ने भूमिका में शा द्वारा चित्रित नारी-समस्या को भारतीय विचारधारा और जीवन-विधि के सामंजस्य में समाहित किया है तथा उसका निदान आध्यात्मिक सम्बन्धों में खोजा है। और शारीरिक सम्बन्ध के लिए नारी के आकर्षण का तिरस्कार किया है। यूरोपीय नाटक के भीतरी वस्तु-विधान के इस विरोध और प्रतिक्रिया में अपने आदर्श वस्तु-विधान को प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने नाट्यशिल्प का कुछ कलेवर उन अँग्रेज़ी नाटकों से ग्रहण किया और उसे भारतीय नाट्यशिल्प के साथ संयोजित कर नाटक के स्वरूप की नयी प्रतिष्ठा की। मिश्र जी के नाटकों के स्वरूप में जो नवीनता है उसमें कुछ चित्र ऐसे हो सकते हैं, जो यूरोप से लाये जाने की सूचना देते हों परन्तु सच यह है कि मिश्र जी के नाटकों के स्वरूप की अस्सी प्रतिशत संघटना भारतीय है—जैसे एक अंक में एक दृश्य, कथावस्तु का संघटन पाँच सोपानों—कार्य की पाँच अवस्था आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम—में, भरतवाक्य का बदले हुए रूप में प्रयोग, उसी के फलस्वरूप प्रायः मिश्र जी के नाटकों का नाम अन्त के संवाद में उद्धृत हो जाता है, रससिद्धान्त के

साधारणीकरण के अनुसार मनोभावों, अनुभावों और उनके सूक्ष्म व्यापारों का अंकन। इन सबसे अतिरिक्त उनके नाटकों का प्रमुख स्वर है—परम्परा का आग्रह अर्थात् अपनी राष्ट्रीय जातीय अस्मिता की अभिव्यक्ति, भारतीय जीवन की आचार-संहिता और उसकी रक्षा की दृष्टि। भूगोल और इतिहास के सही विवरण, चित्र, दृश्य। भ्रमात्मक स्थितियों का अभाव। प्रायः नाटकों में तीन अंक और तीन ही दृश्य। केवल *संन्यासी* नाटक चार अंकों में है। *चक्रव्यूह* नाटक में एक-एक अंक में दो-दो दृश्य हैं, सम्भवतः युद्ध की कथा होने से ऐसा करना पड़ा है। और भी कुछ नाटकों के अन्तिम अंक में दो दृश्य हो गये हैं।

हिन्दी-नाटक को नया स्वरूप प्रदान करके हिन्दी-नाटक-रचना में युगान्तर लानेवाले मिश्र जी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथन को अंशतः स्वीकार किया है कि नाटक के नव स्वरूप की प्रकल्पना में उन्होंने यूरोप से भी कुछ लिया है, *मुक्ति का रहस्य* नाटक का नया संस्करण जब 1950 ई. में प्रकाशित हुआ तब उन्होंने नयी भूमिका में इसका उल्लेख किया है—"उस भूमिका के शीर्षक (मैं बुद्धिजीवी क्यों हूँ) से स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जी भी चौंके और तभी तो अपने इतिहास में इन्होंने लिख दिया—"नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायण जी योरप से लाये हैं।" कितना सत्य है यही देखना है। यूरोप के संसर्ग के कारण हमारी ऊपरी वेशभूषा में जिस प्रकार कुछ परिवर्तन आया है या जिस प्रकार शुक्ल जी अंग्रेज़ी कोट पहन कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाते थे, उतना ही ऊपरी प्रभाव मेरे नाटकों पर पश्चिम का पड़ा है। ऊपरी आकार-प्रकार, भाषा, संवाद, व्यंग्य आदि पर अवश्य ही थोड़ा प्रभाव इब्सन और इसके बाद के नाटककारों का मेरे नाटकों पर पड़ा है पर भीतरी भावलोक उनका भारतीय है। कालिदास और भास की परम्परा का है।" (*मुक्ति का रहस्य*, संस्करण 1967, पृष्ठ 25-26)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने *हिन्दी साहित्य का इतिहास* में भारतेन्दु, 'प्रसाद' तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों पर जो टिप्पणियाँ की हैं, उनको हम ध्यान से मनन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि आचार्य शुक्ल ने भी मिश्र जी के नाटकों की मौलिकता और उनके स्वतन्त्र शिल्प को स्वीकार किया था, जो परम्परा-प्राप्त हिन्दी-नाटक से भिन्न है। शुक्ल जी ने भारतेन्दु के नाटकों पर यह टिप्पणी की है—

"नाटकों की रचनाशैली में उन्होंने (भारतेन्दु ने) मध्यम मार्ग का अवलम्ब किया। न तो बँगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एकबारगी छोड़ ये अंग्रेज़ी नाटकों की नक़ल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया। उनके बड़े नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती थी। पताका, स्थानक आदि का प्रयोग भी वे कहीं-कहीं कर देते थे।" (*हिन्दी साहित्य का*

इतिहास, संस्करण सं. 2053 वि., पृष्ठ 252)

'प्रसाद' जी के नाटकों के सम्बन्ध में उन्होंने यह लिखा—"प्रसाद जी ने अपने नाटकों में बराबर मृत्यु, वध और आत्महत्या दिखायी है।...प्रसाद जी में प्राचीन काल की परिस्थितियों के स्वरूप की मधुर भावना के अतिरिक्त भाषा को रँगनेवाली चित्रमयी कल्पना, और भावुकता की अधिकता भी विशेष परिमाण में पाई जाती है। इससे कथोपकथन कई स्थलों पर नाटकीय न होकर वर्तमान गद्य-काव्य के खण्ड हो गये हैं। बीच-बीच में जो गान लिखे गये हैं, वे न तो प्रकरण के अनुकूल हैं, न प्राचीन काल की भाव-पद्धति के। वे तो वर्तमान काल की एक शाखा के प्रगीत मुक्तक (लिरिक्स) मात्र हैं।" (वहीं, पृष्ठ 300)

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों पर शुक्ल जी की टिप्पणी उनकी नवीनता को लेकर है, शुक्ल जी लिखते हैं—"पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों द्वारा स्त्रियों की स्थिति आदि कुछ सामाजिक प्रश्न या समस्याएँ तो सामने रखी ही हैं, योरप में प्रवर्तित 'यथातथ्यवाद' का वह खरा रूप भी दिखाने का प्रयत्न किया है जिसमें झूठी भावुकता और मार्मिकता से पीछा छुड़ाकर नर-प्रकृति अपने स्वाभाविक रूप में सामने लाई जाती है।...उनके नाटकों में न चित्रमय और भावुकता से लदे भाषण है, न गीत या कविताएँ। खरी बात कहने का जोश कहीं-कहीं अवश्य है। इस प्रणाली पर उन्होंने कई नाटक लिखे हैं, जैसे *मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली, राक्षस का मन्दिर, आधी रात*।" (वही, पृष्ठ 302)

तीनों नाटककारों पर शुक्ल जी की टिप्पणियों का भाव बहुत स्पष्ट है। यदि हम चाहें तो उनका सार-संक्षेप इस प्रकार कर सकते हैं—भारतेन्दु जी मध्यम मार्ग के होकर भी भारतीय परम्परा के नाटककार हैं, 'प्रसाद' जी ने शेक्सपीयर की पद्धति पर नाटकों में मृत्यु, वध और आत्महत्या के दृश्य रखे हैं तथा वे नाटककार से अधिक गद्य-काव्य के रचनाकार हैं और मिश्र जी ने यूरोप के यथातथ्यवाद से प्रभावित होकर हिन्दी के अभिनव नाट्यशिल्प की कल्पना, रचना तथा स्थापना की है।

जो भी हो, हिन्दी का वर्तमान नाट्य-साहित्य मिश्र जी की नव निर्मित सरणि पर ही गतिमान् है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास-ग्रन्थ में नूतनता के इस अध्याय का निदर्शन हुआ है, प्रवर समीक्षकों ने मिश्र जी के नाटकीय कृतित्व को प्रसाद से भिन्न और श्रेष्ठ माना है। सन् 1929 में जब लक्ष्मीनारायण मिश्र का *संन्यासी* नाटक प्रकाशित हुआ तब से हिन्दी-नाटक ने नये युग में प्रवेश किया। भारतेन्दु के नाटक-युग ने अपना दाय उचित ही मिश्र जी की नाट्य-संरचना में स्थानान्तरित कर दिया। भारतेन्दु की नाटकीय रचनाओं में भारत की राष्ट्रीय अस्मिता और जीवन की सहज स्थिति का जो बोध उपस्थित होता है वह

उपस्थिति मिश्र जी की रचनाओं में भी देखी जा सकती है। अन्तर नाट्य-शिल्प और भीतरी कथा-विन्यास का है। वही अन्तर हिन्दी के आधुनिक नाट्य साहित्य का युगान्तर अर्थात् हिन्दी की अभिनव नाटक-रचना है और मिश्र जी इसके विधाता हैं।

पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटक

बीसवीं शती के पाँचवे दशक में मिश्र जी अपनी नाटक-रचना के नये मोड़ पर खड़े हुए यह मोड़ था भारतीय पुराण तथा इतिहास की गाथाएँ, जिस पर उन्होंने पौराणिक और ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटकों की रचना की है। उन्होंने कुछ व्यक्ति-परक नाटक भी लिखे। अपने इस कृतित्व से उन्होंने समीक्षकों को अचम्भित किया। इस अचम्भा का कारण यह था कि अपने सामाजिक समस्या-नाटकों की रचना के समय मिश्र जी ने ऐतिहासिक नाटकों को इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ना-जैसा कहा था। अब उन्होंने अपने इस कथन को बड़े तार्किक ढंग से वापस लिया, कहा कि प्रसाद के नाटकों में इतिहास को लेकर जो सांस्कृतिक भूलें की गयीं, भारतीय जीवन की आचार-संहिता को जिस प्रकार विकृत कर प्रस्तुत किया गया, उससे मर्माहत होकर उनको संस्कृति के क्षेत्र में ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों की रचना करनी पड़ी है। मिश्र जी का यह कथन नाटकीय था, किन्तु सत्य था, सच यह भी था कि यह वास्तविक कारण नहीं था। उनके सामाजिक नाटकों के लिए हिन्दी का अभी वैसा शिक्षित समाज नहीं था। उस समय देश की स्वतन्त्रता का आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था, जब स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल रहा हो तब साधारण शिक्षा-प्राप्त नागरिक की भी दृष्टि इतिहास के जननायकों पर जाती है और उनके साहस, शौर्य और त्याग से प्रेरणा ग्रहण करती है। समाज को सुस्थिर करने का तथा उसके जीवन की आचार-संहिता का सर्वेक्षण करने का उपयुक्त समय स्वतन्त्रता के पश्चात होता है, मिश्र जी के बेजोड़ सामाजिक नाटक हिन्दी की भूमि में समय के पहले लिखे गये। ये नाटक जिस प्रकार से रंगमंच के उपयुक्त हैं, उनके अभिनय में बहुत सरोसाज की उतनी ज़रूरत नहीं है, उस प्रकार ये रंगमंच पर दर्शाए नहीं गये। रंगमंच पर इतिहास और पुराण के जाने-माने चरित्रों के प्रति दर्शकों का आकर्षण बहुत ज़्यादा होता है। जनता के रंगमंच पर ये सामाजिक नाटक बहुत कम आये, किन्तु समीक्षकों तथा लेखकों की बुद्धि और हृदय के रंगमंच पर उनकी तीव्र दीप्ति ने बहुत समय तक चकाचौंध बनाये रखा। अन्य नाटककारों को इस बात की स्पृहा बनी ही रही कि वे ऐसी रचना नहीं कर सके।

सांस्कृतिक नाट्य-रचना के क्षेत्र में ऐतिहासिक और पौराणिक कथावस्तु को लेकर मिश्र जी की कृतियों ने वही आकर्षण पैदा किया, जो आकर्षण उनके सामाजिक नाटकों में था। इस क्षेत्र में उनकी प्रसिद्ध नाट्यकृतियाँ हैं—*गरुड़ध्वज* (1945 ई.) *नारद की वीणा* (1946 ई.) *वत्सराज* (1949 ई.), *दशाश्वमेध* (1950 ई.), *वितस्ता की लहरें* (1953 ई.), *चक्रव्यूह* (1954 ई.), *मृत्युञ्जय* (1957 ई.) *धरती का हृदय* (1961 ई.), *कवि भारतेन्दु, जगद्गुरु, अपराजित, सरयू की धार, प्रतिज्ञा का भोग* आदि नाटक। एक विशेष बात यह रही है कि उन्होंने अपने प्रत्येक नाटक में पौराणिक, ऐतिहासिक घटना-चक्रों के भीतर किसी न किसी विचारणीय समस्या का अन्तर्दर्शन ज़रूर किया है। उदाहरण के लिए *मृत्युञ्जय* नाटक राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की मृत्यु पर लिखा गया है, मिश्र जी ने इस हत्या की प्रेरणा के पीछे भारतीय विश्वविद्यालयों में शेक्सपीयर के नाटकों को पढ़ाया जाना एक ज़बर्दस्त कारण माना है, जिन नाटकों के रंगमंच पर हत्या और मारपीट के दृश्य सामान्य वृत्ति की तरह ही प्रदर्शित होते हैं। *धरती का हृदय* नाटक में चाणक्य चन्द्रगुप्त की माता देवकी के उद्धार के लिए अपनी कूटनीति से महापद्मनन्द का सिंहासन उलट देता है। चन्द्रगुप्त मोरिय शाखा का राजकुमार था, उसकी माता का अपहरण सर्वक्षत्रान्तक नन्द ने किया था, तब चन्द्रगुप्त चाणक्य के पास तक्षशिला चला आया था, जहाँ वह मगध-साम्राज्य का भावी सम्राट् आचार्य द्वारा कल्पित हुआ। इस नाटक में चन्द्रगुप्त की विजय मगध की जनता के जन-जागरण की विजय है, जहाँ युद्ध में रक्त नहीं बहता। शील और प्रेम, कूटनीति और जागरण के आगे नन्द के अमात्य राक्षस ने अपने को चाणक्य को समर्पित कर दिया। वस्तुतः इस नाटक को लिखते समय मिश्र जी के सामने कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी तथा धूमकेतु-जैसे गुजराती कथाकारों-द्वारा चाणक्य के जीवन को लेकर लिखे गये उपन्यास थे, उन उपन्यासों में चाणक्य की कूटनीति के चित्रण में अनेक हत्या, हिंसा, छल, कपट के प्रसंगों का नाता उनसे जोड़ दिया गया है। मिश्र जी की दृष्टि में चाणक्य के व्यक्तित्व की खोज में इस प्रकार इन उपन्यासकारों ने उनकी विभूति का संहार अपनी लेखनी से कर दिया है। मिश्र जी का कहना है कि आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य व्यक्ति की सीमा पार कर लोक-काम, लोकप्राण हैं यह किसी को नहीं सूझा। फलस्वरूप जब मिश्र जी इस नाटक की रचना कर रहे थे, यह प्रतिक्रिया भी उनके रचमान क्षणों में समायी हुई थी। इसी प्रकार कई दूसरे नाटकों में भी सचाई को उजागर करने हेतु समस्या, समाधान और बुद्धिवाद के दर्शन होते हैं।

एकांकी

नाटकों की तरह मिश्र जी ने श्रेष्ठ एकांकियों की रचना की है। उनमें सामाजिक, समसामयिक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक एकांकी है। कुछ एकांकी अपने नाट्यशिल्प तथा वस्तु-विधान में आज भी हिन्दी में विरल हैं, उनमें जो नाटकीय सौन्दर्य या चमत्कार तथा सहज भावाभिव्यक्ति है उसकी समानता अन्यत्र नहीं है, इन एकांकियों के नाम हैं—*एक दिन, स्वर्ग में विप्लव, विषपान, देश के शत्रु, नारी का रंग*। इनमें *एक दिन* तथा *नारी का रंग* सामाजिक नारी-समस्या को लेकर लिखे गये एकांकी हैं तथा शेष तीन एकांकी वर्तमान राजनीति और समाज से सम्बन्धित हैं, जिनको लिखने का साहस मिश्र जी में ही था और उस समय की राजनीति में। *विषपान* ऐसा ही एकांकी हैं, जिससे वर्तमान गृहमंत्री सरदार पटेल क्षुब्ध हो उठे थे। इसका पहला प्रकाशन काशी विद्यापीठ की पत्रिका 'जनसेवा' में हुआ था, जिसके सम्पादक आचार्य नरेन्द्रदेव थे। पाकिस्तान में मुसलमानों ने हिन्दू बहू-बेटियों के साथ जो जुल्म किया था, उसका स्पष्ट चित्र एकांकी में देकर सत्तारूढ़ गणमान नेताओं के प्रति जो गहरा आक्रोश व्यक्त हुआ, उससे भारत सरकार का गृह-विभाग क्षुब्ध रहा। आचार्य नरेन्द्रदेव के सम्पादक होने से मामला वहीं शान्त हो गया था।

मिश्र जी के एकांकियों की विशेषता है कि उनमें प्रायः दृश्य का स्थल एक ही है, या दो। संवादों में तर्क और भाव का संगम एकांकी की मर्मस्पर्शी परिणति करता है। अपनी एकांकी-रचना में भी मिश्र जी नाटक-रचना के समान बुद्धिवादी तथा समस्याओं के जनक हैं, जिनका समाधान भारतीय भावधारा तथा जीवन की आचार-संहिता में होता है। उनके छह एकांकी-संकलन प्रकाशित हैं—*अशोक वन* (1950 ई.), *प्रलय के पंख पर* (1951 ई.), *भगवान् मनु तथा अन्य एकांकी* (1957 ई.), *कावेरी में कमल* (1961 ई.), *स्वर्ग में विप्लव* (1966 ई.), *नारी का रंग* (1966 ई.)। इनमें *भगवान मनु तथा अन्य एकांकी* में केवल रेडियो रूपक हैं। इन एकांकियों के विषय विविध हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, ग्रामीण समस्या, सामाजिक, रागात्मक तथा राजनीतिक। कुल एकांकियों की संख्या 27 है। प्रमुख एकांकियों के नाम ये हैं—*अशोक वन, भगवान् मनु, विधायक पराशर, याज्ञवल्क्य*—(सभी पौराणिक तथा सांस्कृतिक) *कोशाम्बी, भविष्य का गर्व, कौटिल्य* (सभी ऐतिहासिक) *धरती के नीचे, गंगा की लहरें, चकाचौंध, नारी का रंग, एक दिन* (सभी रागात्मक समस्या के सामाजिक एकांकी), *स्वर्ग में विप्लव* (राजनीतिक एवं सांस्कृतिक), *देश के शत्रु, विषपान* (राजनीतिक)।

इस एकांकियों में भी *अशोक वन, याज्ञवल्क्य, स्वर्ग में विप्लव, देश के शत्रु,*

विषपान, नारी का रंग तथा *एक दिन*—अति विशिष्ट एकांकी हैं। *एक दिन* एकांकी का प्रकाशन *जवाहरलाल नेहरू-अभिनन्दन ग्रन्थ* में हुआ था।

नाटकों में शृंगार-रस का स्वरूप

मिश्र जी ने अपने को भरत मुनि द्वारा प्रवर्तित नाट्य-परम्परा का अनुगामी कहा है, जिसमें लोकवृत्ति और मनोव्यापार अर्थात् भावों की अभिव्यक्ति पहली शर्त है—

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
नाट्यं भावानुकीर्तनम्।
नट्येऽष्टौ रसाः स्मृता।।
विभावानुभाव-व्यभिचारि संयोगाद् रस-निष्पत्तिः।

मनोवृत्तियों के निदर्शन का चरम उत्कर्ष रसों की निष्पत्ति में ही है। संस्कृत-नाटकों में रस-निष्पत्ति की दृष्टि से शृंगार रस का पहला स्थान है, उसके बाद वीर और करुण रस का। शान्त रस को भरत ने नाटक की रचना में स्थान नहीं दिया है, परन्तु दसवीं शती के अनन्तर शान्त रसपरक जिन नाटकों की रचना संस्कृत में हुई है, उनमें कृष्ण मिश्र का *प्रबोध चन्द्रोदय* बहुत प्रसिद्ध है। चूँकि नाटक लोकवृत्तानुकरण है। अतः संस्कृत में नाटकों की रचना का आरम्भ पहले प्रेम-कथाओं को ही लेकर हुआ होगा, लोक-जीवन से हटकर जब नाटक राजसभा में पहुँचा, तब भी उसमें शृंगार रस की प्रधानता बनी रही। नाटिका में तो प्रेम-प्रसंग ही नाटक का विषय होता था। इस विधा की रचनाएँ *रत्नावली, प्रियदर्शिका, चन्द्रकला* अति प्रसिद्ध हैं। भास, शूद्रक या कालिदास की प्रसिद्ध नाट्य-कृतियाँ—*स्वप्नवासवदत्तम्, मृच्छकटिकम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम्* जो आज तक नाटक तथा रंगमंच पर समादृत हैं, आगे भी इनका आदर बना रहेगा, ये सभी नाटकक्षेत्र की अमर रचनाएँ हैं, इन सभी नाटकों में शृंगार रस ही प्रधान है। अब प्रश्न यह है कि पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र ने क्या शृंगार रस-प्रधान नाटक लिखा है, जो कि उन्होंने अपने को भास, कालिदास का समानधर्मा कृतिकार कहा है तथा भरत के नाट्यसिद्धान्तों का अनुगामी मानते हैं। सच बात यह है कि उन्होंने शृंगार रस-प्रधान नाटक नहीं लिखा है। नाट्य-रचना हो या काव्य-रचना हो अथवा सृजन की कोई दूसरी विधा हो, उसकी अपनी नवीनता होती है, उसमें अनुकरण के लिए स्थान नहीं होता। मिश्र जी ने कहीं नक़ल नहीं की है। उनके नाटकों में शृंगार रस भरपूर है, पर यह वही शृंगार नहीं है, जिसकी अभिव्यक्ति की बात भरत ने कही है या जो भास के स्वप्नवासवदत्तम् में अथवा कालिदास के *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* में है। तब वह है क्या ? इसका उत्तर

खोजने के पहले शृंगार रस को संस्कृत के आचार्यों ने क्या कहा है, इसका समीक्षण करना चाहिए। भोजराज ने अपने *शृंगार प्रकाश* में शृंगार को अहंभाव कहा है—**रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते।**

अहंभाव का अर्थ हुआ—मनुष्य के मन की अपनी सत्ता। मनुष्य के जीवन में नारी की जो सत्ता है, उसे कभी नकारा नहीं जा सकता है। शृंगार के अहंभाव होने का यही अर्थ है। मिश्र जी ने अपने नाटकों में नारी-समस्या का जो चित्रण किया है, वह इसी अहं-भाव के विस्तार का एक पक्ष है। अतः मिश्र जी के नाटकों में शृंगार रस आया है, पर जीवन का आनन्द बनकर नहीं, जीवन की क्रियाशीलता—तन्मयीभवन की योग्यता की कसौटी बनकर। प्राचीन नाटकों में शृंगार रस नारी के भावों-अनुभावों तक सीमित था, मिश्र जी का शृंगार रस नाम और स्वरूप दोनों में नया हो गया है, नाम है—नारी-समस्या। और स्वरूप है—**भावानुभावावृत बुद्धिवाद संयोगात् समस्या-निष्पत्तिः।** मिश्र जी के शृंगार रस का यह नया स्वरूप उनके अधिकांश नाटकों में है, जहाँ भी मूल कथानक में इसके प्रसंग नहीं थे, प्रायः पौराणिक ऐतिहासिक नाटकों में, मिश्र जी ने वहाँ नये प्रसंगों की उद्‌भावना कर ली है और ऐसी उद्‌भावना में उनके लिए भरतमुनि की सहमति है ही। जैसा कि उन्होंने *अपराजित* नाटक में अश्वत्थामा की भावी पत्नी माधवी की अवतारणा कर दी है। *नारद की वीणा* में चन्द्रभागा की कल्पना है, *दशाश्वमेध* में कौमुदी है।

मिश्र जी के नाटकों में शृंगार रस का नया स्वरूप बहुत चामत्कारिक ढंग से ओत-प्रोत है। उसको शृंगार कह नहीं सकते और है शृंगार ही। शृंगार अर्थात् नारी के मनोभावों और विचारों का चित्रण। और ऐसा चित्रण जो दर्शक को अथवा पाठक को स्तब्ध कर दे। जैसा कि *सिन्दूर की होली* नाटक में है। इस नाटक की (नायिका) चन्द्रकला ने जिस प्रकार रजनीकान्त को अपने आपको समर्पित कर दिया है, उसका प्रेम अपनी महानता और पवित्रता में *मृच्छकटिकम्* की वसन्तसेना और *शाकुन्तलम्* की शकुन्तला के प्रेम से कहीं अधिक उदात्त है। मिश्र जी ने अपनी इन नूतन उद्‌भावनाओं से शृंगार रस के नये स्वरूप की अवतारणा तो की ही है, नाट्यसिद्धान्त के निर्वचन में नयी व्याख्या के लिए भी आगाह किया है।

नाट्यशिल्प की नवीनताएँ

मिश्र जी ने अपने को कल्पना की उड़ान से दूर रखा। जो पात्र जैसा है, उसे वैसा ही प्रस्तुत किया, काव्य की भाषा से या कि कल्पना से नाट्य-रचना को आविल नहीं होने दिया। स्वगतभाषण-जैसे रंगमंच के निर्देश उन्होंने अमान्य कर दिये।

नान्दी और प्रस्तावना उनके पूर्व से ही अप्रासंगिक हो चुके थे। किन्तु नाटक के अन्त में भरतवाक्य-जैसे विधान के प्रति मिश्र जी का आकर्षण बना रहा और उन्होंने किसी न किसी रूप में इसका प्रयोग अवश्य किया है, वह चाहे एक वाक्य में हो, चाहे एक शब्द में। और कहीं पूरे संवाद में है। पर उसका रूप वह नहीं है, जो संस्कृत नाटकों में मिलता है, वह सम्पूर्ण कहानी का अभीप्सित निर्वचन-सा होता है। एक अन्य बात है। मिश्र जी के जो दुःखान्त नाटक हैं, उनमें भी सुखान्त परिणति की कल्पना की गयी है, उनमें कल्पित वस्तु-विधान जोड़ा गया है, जैसे *चक्रव्यूह* नाटक में उत्तरा के गर्भस्थ शिशु की कल्याण-कामना, जो अब एकमात्र कुरुवंश-वृक्ष का बीज है। *प्रतिज्ञा का भोग* नाटक में भी राजपुत्री अम्बा का अग्निसंस्कार देवव्रत भीष्म द्वारा होना बताकर मरणोत्तर उसके पत्नीत्व का स्वीकार किया जाना हुआ। हो सकता है कि मिश्र जी इस धारणा में कहीं से प्रभावित हों अथवा यह सब स्वयं उनकी अपनी उद्भावना है। बाङ्ला-उपन्यासकार वंकिमचन्द्र के उपन्यास *देवी चौधरानी* तथा *दुर्गेशनन्दिनी* में दुःख-गाथा की सुखान्त परिणति दिखायी गयी है। मिश्र जी वंकिमचन्द्र के प्रशंसक थे, सम्भव है कि उन्होंने यह प्रभाव वहाँ से ग्रहण किया हो।

मिश्र जी अपनी नाट्य-रचना में कथावस्तु के विन्यास और भावपूर्ण मर्म-स्थल की पहचान करने में अत्यन्त पटु रहे हैं। तो भी हिन्दी-नाट्यक्षेत्र में जब उनका यश बढ़ने लगा, तब प्रकाशकों ने उनसे आग्रहपूर्वक नाटकों की रचना कराई है तथा उन्होंने कुछ नाटक जीवन के आठवें दशक के आरम्भ में लिखे, जबकि इस अवस्था में पहुँचकर प्रतिभा में तेजी नहीं रह जाती है, तब दोनों ही स्थितियों की नाट्यकृतियों में कथावस्तु के विन्यास शिथिल दिखायी पड़ते हैं, तथा भावों और विचारों की अभिव्यक्ति हमें कम अभिभूत करती है। इन नाटकों के नाम हैं—*चित्रकूट* (पौराणिक), *वैशाली में वसन्त* (ऐतिहासिक), *कल्पतरु* (सामाजिक), जीवन के आठवें दशक में प्रणीत नाटक हैं—*सरयू की धार* (ऐतिहासिक), *प्रतिज्ञा का भोग* (महाभारत), *अश्वमेध* (महाभारत)।

कवि भारतेन्दु नाटक भारतेन्दु जन्मशती के अवसर पर लिखा गया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की भारतेन्दु जन्मशती-समिति ने एक प्रस्ताव पारित कर मिश्र जी से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर नाटक लिखने का आग्रह किया और उन्होंने नाटक लिखा। इसमें लेखक ने बुद्धिवाद एवं समस्या-जनित सन्दर्भों की अवतारणा तो की, परन्तु यह भारतेन्दु के सैलानी जीवन के चित्रण मात्र तक सीमित रहा, इसमें हिन्दी भाषा के उन्नायक भारतेन्दु की अवतारणा नहीं हो पायी है। नाटक जन्म-शती के अवसर पर खेला गया था।

रंगमंच

विश्वविद्यालय के कुछ हिन्दी-अध्यापकों को मिश्र जी को नाटककार होने की मान्यता देने में कष्ट है और उनके नाटकों को रंगमंच के बिलकुल अनुपयुक्त माना है, कारण नहीं दिया है कि क्यों। क्या मिश्र जी के नाटकों की भाषा बहुत जटिल है, वाक्य बहुत लम्बे हैं, समझ में नहीं आते हैं। अथवा क्या मिश्र जी के नाटकों के दृश्य-विधान दुरूह हैं, जो दिखाये नहीं जा सकते। अथवा उनके कथावस्तु का विन्यास अस्वाभाविक है ? ऐसा समीक्षण उन सबने कुछ नहीं किया है। बस एक फतवा दे दिया है कि मिश्र जी ने पाठ्य (अर्थात् पाठ्यपुस्तकों के रूप में) नाटक लिखे हैं। जब कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्र जी के नाटकों की प्रशंसा में लिखा था—"उनके नाटकों में न चित्रमय और भावुकता से लदे भाषण हैं, न गीत या कविताएँ।" हिन्दी-नाटक-क्षेत्र में युगान्तर लानेवाले कृतिकार के प्रति वैसी बातें केवल पूर्वग्रह से ग्रसित होकर ही लिखी जा सकती हैं।

रंगमंच पर कौन नाटक अभिनीत हुआ, कौन नाटक अभिनीत नहीं हुआ—उत्तर प्रदेश और बिहार में हिन्दी के विद्वान् जब यह प्रश्न उठाते हैं, तब वे सौ वर्ष पहले घटित 1857 ई. के स्वतन्त्रता संग्राम को भूल जाते हैं, जिस संग्राम में बाङ्ला, महाराष्ट्र और गुजरात नहीं सम्मिलित थे, वह सारी लड़ाई उत्तर प्रदेश और बिहार की भूमि में हुई थी, उसमें अँग्रेज़ों की विजय हो गयी। उस विजय के दौरान तथा बाद में कम्पनी सरकार ने जो दमन इन प्रदेशों की जागरूक जनता का किया, उस दमन में संस्कृति तथा साहित्य का प्रश्रय देनेवाले प्रतिष्ठान देश-भक्त राजा, सामन्त, जमींदार सभी अपनी सत्ता से हाथ धो बैठे। उनके आश्रय में पल्लवित नाटक, कला, संगीत भी निर्वासित हो गये। रंगमंच पर नाटक कौन खेलता, इसके लिए पुरस्कार कहाँ से मिलता, गरीबी और निरक्षरता ने घर कर लिया था। जो युद्ध के बाद होता है। जागरूक जनता की गरीब निरक्षर पीढ़ी जीविका के लिए कलकत्ता और बाम्बे में जाकर मज़दूर, दरबान बनकर किसी प्रकार जीवन-यापन कर रही थी। गिलमिटिया मज़दूर बनकर लोग देश को अन्तिम नमस्कार कर विदेशी द्वीपों में चले गये, वहीं बस गये, ऐसी परिस्थिति तथा सामाजिक वातावरण में हिन्दी में रंगमंच की कल्पना कहाँ की जा सकती थी और अब, जब आजादी के बाद उसका समय आ रहा था, रंगमंच को प्रोत्साहन दिया जा सकता था, तब सब कुछ सिनेमा और दूरदर्शन ने अपने विजृम्भण में लील लिया।

कॉलेजों में छात्रों ने ही जब-तब इस रंगमंच को जीवन दिया है। अपनी पसन्द के या पाठ्यक्रम में पढ़े जानेवाले नाटकों का अभिनय उनके द्वारा किया

गया है। आज भी हिन्दी के स्वतन्त्र रंगमंच की सत्ता कहाँ है, जिस रंगमंच पर खेले गये नाटक को ही हम नाटक की संज्ञा देना चाहते हैं।

दूसरा सत्य यह है कि जनता के बीच रंगमंच का जो रूप परम्परा से चला आ रहा था, उस पर तुलसीदास का *रामचरितमानस* अधिकार कर बैठा, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश में सात दिन से लेकर पन्द्रह दिन तक रामलीला नाटक के जब तब आयोजन होते हैं और इस नाटक का आधार तुलसीदास के *रामचरित मानस* की चौपाइयाँ होती हैं। विगत 60 वर्ष से *रामचरितमानस* के साथ उस रंगमंच पर राधेश्याम कथावाचक—लिखित *रामायण* भी समादृत है। रामलीला के पात्र कथावाचक राधेश्याम के रामायण के संवाद को बहुत तल्लीन होकर कहते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि *राधेश्याम रामायण* की भाषा खड़ीबोली है।

रचनात्मक तथ्य, इतिहास तथा वर्तमान की इस परिस्थिति को देखते हुए यह कहना नितान्त असंगत है कि मिश्र जी ने रंगमंच के उपयुक्त नाटक नहीं लिखे हैं। एक अन्य जिज्ञासा भी है कि हिन्दी में नाटक तथा रंगमंच के सैद्धान्तिक विवेचन पर कौन-सा यह स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जिसके आधार पर यह कहा जाता है। साहित्यिक कोश या *नाट्यशास्त्र* और *दशरूपक* के हिन्दी-अनुवाद की बात छोड़ दी जानी चाहिये। हिन्दी रंगमंच और नाटक के सैद्धान्तिक विवेचन का वह ग्रन्थ कौन है, जो हिन्दी-नाटक को सामने रखकर लिखा गया हो। अभिनवभरत पण्डित सीताराम चतुर्वेदी का *अभिनव नाट्यशास्त्र* ही सम्पूर्ण विवेचन का एकमात्र ग्रन्थ हिन्दी में है, किन्तु यह संस्कृत नाट्य-विवेचन का प्रतिनिधित्व ही अधिक करता है, हिन्दी का कम। और उसको प्रकाशित हुए लगभग 50 वर्ष हो रहे हैं।

जनता के बीच हमारे रंगमंच की परम्परा कैसे जीवित रही और जीवित चल रही है, इसका कुछ इतिहास पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र के संस्मरणों में है। मुझे याद है, अयोध्या के रामगोपाल पाण्डेय 'शारद' ने अपने श्वसुर की नाटक-कम्पनी को खेलने के लिए तदनुरूप पन्द्रह नाटक लिखे थे, उनमें से *जयहिन्द* (जो सुभाषचन्द्र बोस पर था) और *किसान* नाटक का प्रकाशन भी हुआ था। ये नाटक उन नाटकों से अच्छे थे, जिन के उल्लेख आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु युग में और बाद की नाट्यधारा में किया है। सच्चाई यह है कि मिश्र जी के नाटकों के रंगमंच के अनुपयुक्त होने का प्रश्न नहीं उठता। सत्य यह है कि रंगमंच के उपयुक्त नाटक मिश्र जी ने ही लिखे।

परम्परा का आग्रह

पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र भारतीयता, भारतीय साहित्य और भारतीय जीवन-विधि के

ज़बर्दस्त आग्रही रहे हैं। उनका कहना था कि साहित्य की प्रवृत्ति प्रत्येक भूमिखण्ड की अलग होती है, साहित्य की अभिव्यक्ति में उस देश की धरती, नदी, पहाड़, वन और ऋतुओं का, जल और वायु का ज़बर्दस्त प्रभाव होता है। अतः छह ऋतुओं की सुषमामय प्रकृति से मण्डित भारतीय साहित्य दूसरों के लिए स्पृहा का विषय है। सन् 1786 में *अभिज्ञान शाकुन्तल* का जो अनुवाद अँग्रेज़ी में होकर यूरोप पहुँचा उसको पढ़कर लोग आनन्द से चौंक उठे, जर्मन के महाकवि गेटे ने उसकी प्रशंसा में कविता तक लिख डाली। मिश्र जी का कहना था कि इधर जो छायावादी तथा इतर साहित्य हिन्दी में लिखा जा रहा है, यह यदि विदेशों में पहुँचे तो कोई भी इसे पढ़ना न चाहेगा।

भारतीयता और भारतीय जीवन-विधि के जो प्रसंग मिश्र जी के नाटकों में विचारों और भावों के माध्यम से निबद्ध हुए हैं, वे ऐसे अज्ञात या नये नहीं हैं, जिनको हम न जानते हों। राष्ट्रभक्ति, पराक्रम,.शौर्य, प्रेम, त्याग, करुणा, फल की कामना से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध (प्रजायै गृहमेधिनाम्), शील, पवित्र भावना और परलोक के प्रति आस्था उनके नाटकों में व्यंजित हुई हैं। इन सब में मिश्र जी ने शील को विशेष महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि 'राम इसलिए नायक हैं कि जितने भी मानवीय गुण सोचे और समझे जा सकते हैं, उनका उनमें पूरा विकास है। वे युद्ध में ही केवल अपराजित नहीं हैं, शत्रु भी उनके शील का साक्षी है।' तथा इसके अतिरिक्त उनका प्रबल आग्रह अपनी परम्परा के प्रति है, जिसके नष्ट हो जाने पर, जिसकी उपेक्षा कर देने पर हमारा कहीं अस्तित्व नहीं रह जायेगा। 'परम्परा का आग्रह' से उनका विशिष्ट अभिप्राय है, अपनी राष्ट्रीयता और जातीय स्वाभिमान। इस राष्ट्रीयता तथा जातीय स्वाभिमान के विविध पक्ष वाल्मीकि *रामायण, महाभारत* तथा कालिदास के *रघुवंश* में तथा पौराणिक कथा-प्रसंगों में देखे जा सकते हैं।

परम्परा शब्द कहने से मिश्र जी का अभिप्राय भारतीय कवियों के उस अनासक्त रचना-धर्म से भी है, जहाँ वे अपनी व्यक्ति-कुण्ठाओं की रचना न कर, अनासक्त रहकर विधाता बन कर साहित्य के सृजन में प्रवृत्त होते हैं। *चक्रव्यूह* नाटक में उन्होंने जो भूमिका लिखी है, उसका शीर्षक ही है—परम्परा का आग्रह। उसमें उन्होंने लिखा है कि जिन जातियों अथवा राष्ट्रों ने अपनी परम्परा से नाता तोड़ लिया, उनका नाम मिट गया, विश्वपटल से वे ग़ायब हो गये। हमारा अस्तित्व अपनी परम्परा में है। *मुक्ति का रहस्य* का सन् 1950 में जब नया संस्करण हुआ तो उसकी नयी भूमिका में उन्होंने भारतीय कवियों के सृजन-धर्म का परिचय देते हुए लिखा—"कला का प्रधान धर्म जहाँ मृत्यु से रक्षा है और जीव जहाँ ब्रह्म का

अंश है, वहाँ सृष्टि के मूल में ही आनन्द और कल्याण अभिप्रेत है। हमारी संस्कृति में जीवन का लक्ष्य, प्रयोजन और आधार आनन्द है। दूसरी ओर यही सब यूरोप में विषाद, अतृप्ति और निराशा है। आचार्य शुक्ल ने मेरे उन नाटकों में यूरोप का अनुकरण देखा, जिनमें इस देश के जीवन-दर्शन की मान्यताएँ नहीं बिगड़ीं और 'प्रसाद' को वे नाटकों में उन सारे व्यापारों की छूट दे गये, जो सब ओर से विदेशी हैं। कला और साहित्य के माध्यम से जो जीवन की जय न बोलकर मृत्यु की जय बोलता रहा, जिसके नाटक दुःखान्त और मानसिक विकारों से ग्रस्त हैं—आचार्य शुक्ल की दृष्टि उस पर न पड़ी। यही विस्मय है।

''हमारे संस्कृत कवि और नाटककार व्यक्ति न होकर विधाता बन गये थे। महर्षियों ने जीवन का जो अनुभव किया, उसे ही वे लोक में साहित्य के रूप में देते रहे। इसीलिए हमारे पुराने साहित्य में साहित्यकार अपनी निजी वासनाओं, लालसाओं और अभाव की अग्नि में नहीं जलता। इस सृष्टि के रचयिता की तरह वह भी अपनी सृष्टि में अनासक्त है। प्रसाद के नाटकों में जितनी आत्महत्याएँ करायी गयी हैं, उन सबका कारण यही है कि 'प्रसाद' को अनासक्त कवि-कर्म का पता नहीं था।'' (*मुक्ति का रहस्य*, संस्करण 1967, भूमिका पृष्ठ 27)

हम ऐसा समझते हैं कि मिश्र जी ने यह मीमांसा ऋषियों के साहित्य सृजन को लेकर की है, जिसकी सीमा में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भर्तृहरि, तुलसीदास जैसे कवियों की रचनाएँ आती हैं, जिन्होंने साहित्य नहीं लिखा है वाणी के अक्षरों में अक्षय अमृत उड़ेल दिया है। संसार के व्यवहार में जीवन जीनेवाले कवियों से ऐसा अनासक्त कवि-कर्म सम्भव नहीं है। यद्यपि यह भी सच है कि संस्कृत के कवियों और आचार्यों ने ही इस परम्परा को विच्छिन्न कर दिया। आचार्य मम्मट ने अर्थ की प्राप्ति को भी काव्य-रचना का एक प्रयोजन बताया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। (*काव्य प्रकाश*)

इसके उदाहरण भी दिये हैं तथा बिल्हण और कल्हण-जैसे कश्मीरी कवियों ने ललकार कर राजाओं से अपनी कविता का मूल्य माँगा है। बिल्हण ने तो *विक्रमांकदेवचरित* के आरम्भ में ही राजाओं को चेतावनी दी है कि कवियों की उपेक्षा न करना, नहीं तो तुम्हारा अस्तित्व नहीं रहेगा—

न वञ्चनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः।

ऐसी ही बात कल्हण *राजतरंगिणी* में लिखता है कि जिन सम्राटों ने समुद्र तक धरती पर शासन किया, यदि कवि का अनुग्रह उनको नहीं प्राप्त हुआ तो वे कभी याद भी नहीं किये गये—

स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे ।।

कश्मीर के उन कवियों की तरह बहुत कुछ यह विनिमय प्रजातंत्र के राष्ट्र में भी यथावत् कायम है। और पत्रकार तो नेताओं को वैसी ही चेतावनी देते हैं, जैसी चेतावनी बिल्हण और कल्हण ने राजाओं को दी थी।

अस्तु, इस युग में मिश्र जी द्वारा प्रतिपादित अनासक्त कविकर्म दुर्लभ है, और कालजयी कृतियों की रचना भी केवल कल्पना या अपने-अपने अहंकार की बात होगी। हाँ, परम्परा की बात हमें स्वीकार करनी चाहिए और हिन्दी के रचनाकारों को मिश्र जी के इस कथन पर ध्यान देना केवल उनके हित में नहीं, वरंच हिन्दी के हित में भी है, जैसा कि वे *अपराजित* की भूमिका में लिखते हैं–

"अब समय आ गया है। जब आवश्यक है कि हमारे साहित्यकार अपना सम्बल बदलें और अपनी कृतियों से प्रमाणित करें कि वे किस जाति, किस संस्कृति और किस परम्परा के प्राणी हैं।"

प्रसिद्ध आलोचक स्वर्गीय डॉ. देवराज उपाध्याय ने मिश्र जी से सहमत न होकर भी उनके इन विचारों की सत्यता को स्वीकार किया है, लिखा है कि–"इन सब बातों द्वारा मिश्र जी यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि आधुनिक भारतीय साहित्य, विशेषतः हिन्दी-साहित्य अपनी प्राचीन परम्परा के प्रति उदासीन होने तथा पश्चिमी साहित्य की ओर उन्मुख होने के कारण ही अधिक फल-प्रसू नहीं हो रहा है। वह एक तरह से निस्संतान है। मिश्र जी की बातों से मतभेद हो सकता है। पर जब वे कहते हैं कि 'हमारा आज का साहित्य यदि अनुवाद के रूप में पश्चिमी भाषाओं में रखा जाये तो वहाँ के विचारक इसे देखकर विस्मित न होंगे जैसा *अभिज्ञान शाकुन्तल* के अनुवाद से उनके पूर्वजों को विस्मय हुआ था।' तो उनके कथन को भावुकता कहकर टाला नहीं जा सकता।" (*साहित्य एवं शोध : कुछ समस्याएँ*, पृष्ठ 86-87)

हिन्दी-प्रेम

17 अगस्त 1964 को उत्तर प्रदेश विधान-सभा ने राष्ट्रभाषा के व्यवहार में अँग्रेज़ी की अवधि को, जो 15 वर्ष बाद समाप्त हो रही थी, आगे यथावत् बने रहने के लिए प्रस्ताव (विधेयक) पारित किया, सत्ता काँग्रेस के हाथ में थी, विपक्षी दल ने हिन्दी के पक्ष में इसका ज़बर्दस्त विरोध किया, हंगामा और विरोध की स्थिति यह थी कि हिन्दी का नारा लगानेवाले विपक्षी सदस्य घसीट कर विधान सभा से बाहर

किये गये। पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र को सत्तारूढ़ काँग्रेस सरकार के हिन्दी के विरुद्ध इस निर्णय और इस व्यवहार ने बड़ा आहत किया। उन्होंने इस घटना पर अपने विचार 'हिन्दी गंगा की भूमि में' लेख में प्रकट किये हैं, यह लेख 'आज' वाराणसी के 24 अगस्त 1964 के अंक में छपा है। इस लेख में मिश्र जी के अनासक्त कवि-कर्म की एक झाँकी मिलती है—'गत 17 अगस्त के उत्तरप्रदेशीय विधान सभा में जो घटना घटी है उस पर विचार करने का अधिकार और अवसर इतिहास को मिलेगा। विधान सभा की इस घटना में देखना होगा कि कितने इसमें देवत्व के अधिकारी हैं। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' का जो कुछ भी मेरा बोध रहा है उसके प्रति आस्थावान् होकर मुझे कहना पड़ रहा है कि जो सदस्य विधान-सभा के आसनों से या नीचे धरती से खींचकर बाहर किये गये हैं, वे हमारे भविष्य के इतिहास में वह स्थान पाएँगे, जिसके लिए जन्म लेना सार्थक कहा जायेगा। राजनीति से मेरा कोई नाता नहीं रहा है। फिर भी सन् 43 में शत्रु बना कर मैं राजबन्दी रहने का लाभ पा चुका हूँ। हिन्दी भाषा या मातृभाषा के आग्रह के अनुराग में जो सदस्य घसीटकर बाहर किये गये हैं, वे भले हों, बुरे हों, रूस, चीन के दलाल हों, या प्रतिक्रियावादी पद्धति के माननेवाले हों, अपने इस एक आचरण से मेरे लिए परम पवित्र और देशभक्त बन गये हैं। इस राज्य के महाधिवक्ता का मत क्या है, कानून बनानेवालों का मत क्या है ? इस आधार पर राज्य के आठ करोड़ जनसमुदाय के या पैंतालीस करोड़ भारतीय प्रजा के स्वाभाविक भावों का हनन नहीं किया जा सकता। केवल उत्तर प्रदेश ही नहीं, समूची भारतभूमि और इस भूमि पर बसनेवाली भारतीय प्रजा का हृदय उन सदस्यों के साथ है, जो विधानसभा से घसीटकर निकाले गये हैं।''

मिश्र जी की आप्तवाणी भविष्य में सत्य होकर सामने आयी। सन् 1967 में काँग्रेस पार्टी हार गयी और प्रदेश में संविद सरकार का गठन हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि मिश्र जी अपनी रचनाओं में ही नहीं, अपने तीखे और सत्य विचारों को प्रकट करने में भी सर्वथा निर्भय और अनासक्त रहे हैं, विचारों की सत्यता यह थी कि वे भविष्य में घटित भी हुए। यह एक उदाहरण है।

वर्तमान भारतीय साहित्य, विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य जब पश्चिमी साहित्य के प्रलय-पयोधि के वेग में दशक प्रति दशक डूबता गया, और डूब ही गया, तब भी उत्तरगिरि हिमालय के शिखर की भाँति अडिग ऊँचे जिस सृजनकर्त्ता को उस प्रलय समुद्र की उत्ताल लुभावनी लहरें न ही डिगा पायीं, न ही बहा पायीं, हिन्दी साहित्य के वही भास्वान् शिखर हैं—पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र। वे इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय साहित्य के सृजन की परम्परा की जड़ें बहुत गहरी हैं, उसको

मिटाया नहीं जा सकता। जिस देश में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण, तुलसीदास जैसे साहित्य के विधाता हुए हैं और उन्होंने मनुष्य के चिरन्तन जीवन की जो व्याख्या या अभिव्यक्ति दी है, उससे अधिक मनुष्य को जाना नहीं जा सकता। हिन्दी नाटक-क्षेत्र में मिश्र जी ने उसी व्याख्या की सुबोध अभिव्यक्ति करने का संकल्प लिया और भारतीय साहित्य की रक्षा में युगान्तर खड़ा किया।

3

प्रेरणा और सिद्धान्त : मिश्र जी के नाटक

प्रेरणा और सिद्धान्त

मौलिक तथा श्रेष्ठ रचनाकारों का रचना के क्षेत्र में अपना नया रास्ता होता है, न वे नकल करते हैं, न पुराने रास्ते पर चलते हैं—**लीक छोड़ि तीनहिं चलें सायर, सिंह, सपूत**। मिश्र जी के सामने उनके युग में नये रास्ते का प्रकाश अपने आप चमक रहा था, आज से नहीं सहस्राब्दियों से। और वह था भारतीय साहित्य-रचना का मार्ग वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि कवियों का अमर साहित्य। खड़ी बोली हिन्दी की प्रतिष्ठा को अभी पचास वर्ष बीत थे और इस भाषा में साहित्य लिखना नयी बात थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अप्रैल सन् 1873 को अपनी डायरी में लिखा था—हिन्दी नयी चाल में ढली। यही नयी चाल है—हिन्दी का खड़ीबोली का स्वरूप, जो बाद में हिन्दी का मानक रूप प्रतिष्ठित हुआ। खड़ीबोली हिन्दी में 1914 ई. में अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध के *प्रियप्रवास* महाकाव्य की बड़ी धूम थी, अन्य महाकाव्य भी लिखे गये थे। नाटकों में प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों की धूम थी। इसके साथ ही *प्रियप्रवास* के अनन्तर छायावादी काव्यधारा का प्रवाह पूरे हिन्दी-जगत् को आप्लावित कर रहा था। छायावादी हिन्दी-कवियों पर विक्टोरिया युग के रोमांटिक अँग्रेज़ी-कवियों का ज़बर्दस्त प्रभाव था, प्रसाद जी के नाटकों पर भी शेक्सपीयर की नाटक-रचना का भरपूर प्रभाव है, जो बाङ्ला के द्विजेन्द्रलाल राय से होकर हिन्दी में पहुँचा था। दूसरी ओर अँग्रेज़ी शासन से मुक्ति का अर्थात् स्वराज्य का आन्दोलन पूरे देश में जोरों पर था। मिश्र जी की साहित्य-रचना का अपना मार्ग क्या हो, इसका निर्णय करने में देर नहीं लगी। वे विदेशी साहित्य-रचना

के प्रभाव से अभिभूत छायावादी काव्य तथा प्रसाद के नाटकों की रचना के विरुद्ध उठ खड़े हुए। उन्होंने भारतीय साहित्य-रचना और भारतीय जीवन की आचार-संहिता के प्रशस्त मार्ग पर चलने का निश्चय किया, विदेशी साहित्य और संस्कृति के संगम में पड़े वर्तमान समाज को अपनी मूल परम्परा से जोड़ने का निश्चय किया, एक तरह से उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में समय के विरुद्ध रचना करने का संकल्प लिया। तथा नाटक-रचना को अपने इस संकल्प का क्षेत्र बनाया।

उनका पहला नाटक *संन्यासी* 1929 ई. में प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका (अपने आलोचक मित्र से) में उनके इस संकल्प के उद्गार ब्योरेवार कारण तथा समाधान के साथ प्रकट हुए हैं, जैसे—भूमिका आरम्भ करते हुए मिश्र जी लिखते हैं—"तुमने सन्देह किया है कि कदाचित् मैंने अपने नाटक में बरनार्डशा का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है।...बरनार्डशा का अनुकरण भारत में सम्भव नहीं। बरनार्डशा की सूखी विवेक और तर्क की प्रणाली आध्यात्मिक अनुभूति के समझने में सफल नहीं हो सकी। पश्चिम और पूर्व के जीवन में अन्तर है। उनका विरोध जीवन की उन बनावटी बातों से है, जिनके कारण पश्चिम आज अशान्त है। किन्तु टालस्टाय अथवा रोम्यारोलाँ की तरह उन्होंने शान्ति के किसी नये रास्ते का पता नहीं लगाया। उनका काम उपहास करना है सुधार करना नहीं। जिन विभूतियों के कारण हमारी सभ्यता इतने दिनों की गुलामी के बाद भी अभी अपना शिर ऊँचा किये खड़ी है उनकी भी दिल्लगी उड़ाने में वे बाल नहीं आते। जो कि उनको समझने का भी कभी उन्होंने कष्ट नहीं किया। संसार में 'नारी समस्या' बड़ी जटिल है। इसे हम भी मानते हैं, वे भी मानते हैं, लेकिन हमारे और उनके समझने में अन्तर है।

"...यह युग कलाकार का नहीं, तत्त्वदर्शी कलाकार का है जिसे तुम्हारे शा महोदय ने फिलास्फर आर्टिस्ट कहा है। युग की समस्याओं का प्रभाव सब से पहले कवि की, नाटककार की, उपन्यासकार की या एक शब्द में रचयिता की आत्मा पर पड़ता है। वह जो अनुभव करता है अच्छा या बुरा, ईमानदारी के साथ तुम्हारे सामने रखता है, तुम्हारी आँखें खोलना चाहता है। उसके जीवन की अनुभूति तुम्हारे जीवन में प्रवेश करती है। तुम भीतर ही भीतर बदल जाते हो। तुम्हें पता नहीं चलता।... यह काम कलाकार का नहीं, तत्त्वदर्शी कलाकार का है।" (*संन्यासी* की भूमिका से)

मिश्र जी के रचना-धर्म का यह उद्गार उनके प्रथम नाटक *संन्यासी* की भूमिका से दिया गया है। फिर तो मिश्र जी उत्तरोत्तर भारतीय साहित्य-रचना और संस्कृति के प्रति अपने संकल्प को दुहराते रहे हैं। एक तरह से बीसवीं शती के तीसरे दशक में हिन्दी के छायावादी काव्य तथा नाटक-रचना पर अँग्रेज़ी के

रोमांटिक कवियों एवं नाटककार शेक्सपीयर के तीखे प्रभाव की प्रतिक्रिया मिश्र जी की साहित्य-रचना के लिए प्रेरणा-स्रोतों का उद्गम है। बाद में उन्होंने अपने व्याख्यानों तथा नाटक की भूमिकाओं में भारतीय साहित्य-रचना के सिद्धान्तों और जिन जीवन्त पक्षों का उल्लेख किया है, उनको निम्न आठ शीर्षकों में विश्लेषित किया जा सकता है—

1. परम्परा का आग्रह

जातीय मान्यता, अस्मिता, अपने अतीत के गौरव तथा अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है।

2. साहित्य अपने राष्ट्र और मातृभूमि की पहचान है

साहित्य जिस देश में रचा जाता है, उसका रचयिता जिस देश की मिट्टी में पैदा हुआ रहता है, उसके अभिज्ञान उसकी रचनाओं में होते है। भारत के कवि की रचना में भारतीय जीवन-दर्शन तथा जीवन की आचार-संहिता की अभिव्यक्ति अवश्य होगी। पुनर्जन्म, पुत्र द्वारा जीवन की अमरता, पत्नी और पुरुष के जीवन की परस्पर पूर्णता, इसके साथ ही भारतीय भूखण्ड के सौन्दर्य के आकर्षण और बीहड़ रूप एवं ऋतुओं का बोध उसमें होगा।

3. रचनाकार का दर्जा सृष्टिकर्ता का है

उपनिषद् का वाक्य है कि कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः। विधाता, जिसने यह सृष्टि की है, वह अपनी सृष्टि के प्रति सदा अनासक्त रहा। उसके आनन्द का तीव्र भाव इस सृष्टि की रचना है, जो सहज ही हो गई। इतनी सहज और अनजानी हुई, कि उसकी प्रेरणा और कारण को नहीं जाना जा सकता। सहज और अमर काव्य-रचना भी कवि की अनासक्त स्थिति में ही सम्भव है।

4. जीवधर्म या भावलोक

जीवधर्म का अर्थ है प्राणी के मन की प्रवृत्तियाँ। भावलोक का भी यही अर्थ है—भाव अर्थात् मन की सत्ता का संसार। बिना मन के यह संसार नहीं है—**मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं न प्रसज्यते**। मन की सत्ता के क्रिया-कलापों तथा प्रवृतियों की सहज साधारण अभिव्यक्ति ही साहित्य की रचना है। साहित्य वही है, जिसके पद-विन्यास में, अर्थ-बोध में मन बोल रहा हो, मन झाँक रहा हो। युवती के प्रति

आकर्षण, बच्चे के प्रति वात्सल्य, अत्याचार के प्रति क्रोध तथा अन्य लोभ, मोह आदि मन के संस्कार से उत्पन्न वासनाओं का संसार ही जीवधर्म है। यही क्रियाशील मन का भावलोक है। छायावादी कवियों ने रहस्यवादी बनकर अनजाने अनन्त प्रियतम के प्रति अपने प्रेम के उत्कट गीत गाये हैं, आजीवन कुमार या कुमारी रहने में ही जीवन को सफल माना है, मिश्र जी का कहना है कि यह सब जीव-धर्म के विरुद्ध है और कोरा नाटक है।

5. रचनाकार व्यक्ति नहीं, विधाता होता है

साहित्य की रचना का विषय व्यक्ति की कुंठाएँ, घुटन और आह्लाद नहीं होना चाहिए। समष्टि का सुख-दुःख, उत्थान-पतन ही कवि के कृतित्व की प्रेरणा बनते हैं।

6. काम ही कला और साहित्य को जन्म देता है

मिश्र जी का कहना है कि जैसे कीचड़ में कमल खिलता है, वैसे ही काम की भावना से कला और साहित्य जन्म लेते हैं। बल (पराक्रम) और पवित्र काम की सम तथा समानान्तर स्थिति उदात्त साहित्य के अवतरण का हेतु है। जैसा कि भगवान् कृष्ण ने *गीता* में अपने लिए कहा है—

बलं बलवतां चाहं कामराग विवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।। (*गीता,* अध्याय 7/11)

अर्थात् मैं बलवानों का वह बल (पराक्रम) हूँ, जिसमें काम एवं राग का कोई स्पर्श नहीं है तथा प्राणियों में धर्म-सम्मत पवित्र काम हूँ।

कालिदास-जैसे कवियों के काव्य में पराक्रम और काम की यही समरस अभिव्यक्ति है, एकांगिता नहीं है। उसको न समझ कर मध्यकाल के तथा आज के साहित्यालोचक कालिदास के *मेघदूत* तथा *कुमारसम्भव*-जैसी काव्यकृतियों को केवल शृंगार का ललितोद्‌गार मानते हैं तथा यह कहकर राष्ट्र के उदात्त स्वरूप के द्रष्टा उस कवि कालिदास को कितना लघु कर देते हैं, नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनको शृंगार ही प्रिय है, इसलिए कालिदास के काव्य में पराक्रम के भावलोक को अनदेखा करते हैं। दिलीप के शारीरिक सौष्ठव का जो चित्रांकन *रघुवंश* के प्रथम सर्ग में हुआ है, उसका विश्लेषण कोई नहीं करता। *मेघदूत* और *कुमारसम्भव* में पराक्रम के ऐसे कई सन्दर्भ हैं। आलोचक यह नहीं समझते हैं कि कालिदास की शृंगार-लता पराक्रम की सुखद काया में सुषमा-मंडित हुई है, पराक्रम को अलग कर उसे देखा नहीं जा सकता। छायावादी कवियों का शृंगार कल्पना की छाया में कल्पना के रस से अतृप्त विभवहीन कलपता-भटकता शृंगार है।

7. नवो नवो भवति जायमान :

प्रत्येक रचनाकार और उसकी रचना नयी सृष्टि होती है। नवत्व ही रमणीयता है। प्रकृति देखने में वही होती है, लेकिन प्रत्येक दिन और प्रत्येक ऋतु में उसकी अपनी नवीनता है।

8. पृथ्वी का हृदय अमृत से घिरा है

अथर्ववेद में कहा गया है कि *हृदयेनावृतममृतं पृथिव्याः*। मिश्र जी उसको लक्ष्यकर कहते हैं कि कवि या रचनाकार जब अपने कृतित्व से उस अमृत को सुलभ कराये, तभी उसके रचना-धर्म की सार्थकता है। उससे भी सामाजिक जन आनन्द और शक्ति प्राप्त करेगा तथा समय पड़ने पर अपनी अस्मिता की रक्षा भी करेगा।

साहित्य-रचना के इन सिद्धान्तों का निर्वाह मिश्र जी के नाटकों और महाकाव्य की रचना में सहज रूप से देखा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि इन सिद्धान्तों के चौखट में बैठकर ही कृतियों की रचना हुई है, पर रचना के धर्म, देश तथा काल के रूप में उनकी उक्त मान्यताएँ अभिव्यक्त होती हैं।

इन मान्यताओं की भूमि में मिश्र जी ने अपनी नाटक-रचना के लिए सर्वथा नया मार्ग कल्पित किया, जिसमें भारतीय कवियों का भाव-लोक तो है ही, भरत के नाट्यशास्त्र का रस-साधारणीकरण भी है, पर उसको उन्होंने अपने बुद्धिवाद के नये स्वाद से युक्त किया है, जिसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—
भावानुभावावृत बुद्धिवाद संयोगात् समस्या-निष्पत्तिः।

अब मिश्र जी के दो प्रसिद्ध नाटकों का संक्षिप्त परिचय उनके विशिष्ट सन्दर्भों के साथ दिया जा रहा है। इनसे उनके नाटकीय कथा-विन्यास, रचना-सिद्धान्त तथा शिल्प की मौलिकता का परिचय मिलेगा।

समस्या नाटक

सिन्दूर की होली

इस नाटक के कथानक की अवधि केवल 12-13 घंटे मात्र की है। नाटक की कथा प्रातःकाल 9 बजे शुरू होती है तथा कथा की अन्तिम घटना लगभग 10 बजे रात्रि में बीत जाती है। नाटक में तीन अंक है, तीनों अंकों में दृश्य का स्थल एक ही है—डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल के बँगले की बैठक। पहला दृश्य 9 बजे का है,

दूसरा सन्ध्याकाल का तथा तीसरा रात्रि 10 बजे का। दिन वर्षाकाल का है।

अंक के अनुसार नाटक की कथा नाट्यशिल्प और अभिनय के तारतम्य में है और त्वरित गति से घटित होती है। सुगमता के लिए पूर्ववृत्त का परिचय देना अच्छा होगा। संक्षेप में वह इस प्रकार है—मुरारीलाल डिप्टी कलेक्टर है, जब की कथा है, ब्रिटिश शासन था। मुरारीलाल बड़े जमींदारों से घूस लेता है। भगवन्तसिंह जमींदार का कोई मुक़दमा उसके यहाँ है, इस जमींदार का प्रतिद्वन्द्वी इसका भतीजा रजनीकान्त है, डिप्टी कलेक्टर को प्रसन्न कर वह रजनीकान्त को मरवाने की योजना बनाये है। डिप्टी कलेक्टर को एक लड़की है चन्द्रकला, उसके विवाह की उसको चिन्ता है, चिन्ता का अर्थ रुपयों की ज़रूरत है। भगवन्त सिंह रजनीकान्त को मरवाने के लिए पचास हज़ार रुपये तक घूस के रूप में डिप्टी कलेक्टर को देने का निश्चय किये है। रजनीकान्त बीस वर्ष को उम्र का स्वस्थ और बहुत सुन्दर युवक है। वह बी. ए. तक पढ़ा है। उसे अपने मारे जाने की आशंका है। डिप्टी कलेक्टर से शिकायत करने वह आता है। घटना के पूर्व वह डिप्टी कलेक्टर के पास आकर रो रहा था, उसने कहा था, यदि मुझे कुछ हुआ, तो उसकी जिम्मेदारी आपकी होगी, चन्द्रकला ने अपने पिता से बात करते हुए रजनीकान्त को भली-भाँति देखा। वह उस पर मुग्ध हो गयी, मन से अपने आपको उसे अर्पित कर दिया। नाटक-रचना का सन्दर्भ यहीं से पल्लवित होता है। कथा की विषम और सुकुमार परिस्थिति यह है कि मुरारीलाल लड़की के विवाह के लिए दस और चालीस हज़ार रुपये घूस लेता है, उस घूस लेने के फलस्वरूप रजनीकान्त मारा जाता है और दूसरी ओर उसकी लड़की चन्द्रकला ने अपने आपको रजनीकान्त को अर्पित कर दिया है।

मुरारीलाल ने मनोरमा नाम की एक विधवा युवती को अपने यहाँ पुत्री चन्द्रकला को चित्र-रचना की शिक्षा देने के लिए रखा है, वह बाल-विधवा है, उसकी उम्र भी बीस वर्ष की है। मुरारीलाल के मित्र का लड़का मनोजशंकर, उम्र बाईस वर्ष उसी के आश्रित होकर लखनऊ में पढ़ रहा है, उसका ख़र्च डिप्टी कलेक्टर वहन करता है। उसने चन्द्रकला का विवाह इसी के साथ करने का निश्चय किया है। पचास हज़ार रुपये जो घूस के आये हैं, उसमें से उसको ख़र्च भेजा जायेगा। भीतर छिपी हुई दूसरी बात भी है, मनोजशंकर मनोरमा को चाहता है तथा डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल की आसक्ति भी मनोरमा के प्रति है, जैसा कि बड़े लोगों का चरित्र होता है। एक यह भी रहस्य है कि मुरारीलाल ने किसी स्वार्थ-वश मनोजशंकर के पिता की हत्या जहर देकर करा दीं थी और प्रचारित क़िया था कि उन्होंने आत्महत्या कर ली। इस तरह से पूरा कथानक काम-संवेग

की समस्याओं से ओत-प्रोत है, जैसा कि सम्पन्न घरानों की स्थिति-परिस्थिति होती है।

नाटक में कुल नौ ही पात्र हैं—रजनीकान्त, मनोजशंकर, मुरारीलाल, माहिर अली, भगवन्त सिंह, हरनन्दन सिंह, चन्द्रकला, मनारेमा, डॉक्टर तथा कुछ अन्य जन। दृश्य के नाम पर एक ही दृश्य की साज-सज्जा है। कथानक की अवधि 12 घंटे की है।

नाटक की विशेषता उसके पात्रों (विशेष रूप से चन्द्रकला तथा मनोरमा) के संवादों के भावपूर्ण, तर्कपूर्ण तीखे विचारों में है, जो वस्तुतः काम-समस्या के प्रश्न और उत्तर हैं। अभिनेयता की दृष्टि से उसका शिल्प सरल तथा चामत्कारिक है।

नाटक में आये कथानक का विश्लेषात्मक परिचय यह है, जो वर्तमान के साथ पूर्व कथा को भी दीप्त करता है—

पहला अंक

प्रातः 8 बजे अपने बँगले से निकल कर डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल बरामदे में आये। मुरारीलाल की अवस्था चालीस वर्ष की है। मुंशी माहिरअली ने भगवन्त सिंह के भतीजे (वकील) के आने की सूचना दी। मुरारीलाल ने कहा कि मनोजशंकर के विलायत जाने का ख़र्च इनसे वसूल कर लो। माहिरअली बोला—"साहब पट्टीदारी का झगड़ा है, उस लड़के पर मुझे रहम आती है, ये सब उसे मार देना चाहते हैं।" तभी मुरारीलाल की पुत्री चन्द्रकला आ गयी। उसने बताया कि लखनऊ से मनोज की चिट्ठी आयी थी, उनकी तबीयत अभी ठीक नहीं है। चन्द्रकला उदास है, उसका चेहरा उतरा हुआ है। भीतर ही भीतर उसको रजनीकान्त के विरुद्ध पिता द्वारा घूस लेने की बात मालूम हो गयी है। मुंशी माहिरअली ने इंगित किया कि भगवन्त सिंह अपने भतीजे के साथ आ रहे हैं। डिप्टी कलेक्टर तत्काल भीतर चले गये।

भगवन्त सिंह तथा उनके भतीजे हरनन्दन सिंह आकर मुंशी माहिरअली से मिले। साहब के बारे में पूछा। दस हज़ार रुपये साहब के लिए और पाँच सौ रुपये माहिरअली के लिए दिया। माहिरअली रुपया लेते समय ईश्वर तथा सत्य के प्रति श्रद्धा रखकर महत्त्वपूर्ण बात कहता है—"साहब लोग अपने हाथ से नहीं लेते। (हाथ हिलाकर धरती की ओर संकेत करते हुए और उसी क्षण ऊपर हाथ उठाकर) यहाँ-वहाँ और जवाब देने को भी तो कुछ चाहिए। जिस दिन हिसाब होगा...उस दिन। उसी दिन के लिए अपने हाथ से नहीं लेते।"

रुपयों के नोट की गड्डी लेकर माहिरअली भीतर चला जाता है। नाटककार की इस पर टिप्पणी है—ऐसा मालूम हो रहा है, जैसे हाथ में आग लेकर भागा जा

रहा हो।

उसके जाने के बाद भगवन्त सिंह और हरनन्दन सिंह रजनीकान्त की बुराई आपस में करते रहे। हरनन्दन सिंह ने कुछ उसके पक्ष में बात की, तो रजनीकान्त सिंह ने सख़्त विरोध किया। लगता है कि हरनन्दन सिंह को डिप्टी कलेक्टर से बात करने में मदद के लिए ही भगवन्त सिंह लाये हैं, उन्होंने क्या कर डाला है, इसका पता हरनन्दन को नहीं है। तब तक डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल आ जाते हैं, भगवन्त सिंह तथा हरनन्दन सिंह दोनों रजनीकान्त को आवारा तथा बड़ों की उपेक्षा करनेवाला बताते हैं। हरनन्दन कहते हैं कि लगानबन्दी करवा रहा है तथा बाज़ार के कपड़ों की होली जलाता है। (यह काम उन दिनों ब्रिटिश हुकूमत के ख़िलाफ़ विद्रोह माना जाता था, काँग्रेस के अनुयायी स्वतन्त्रता-आन्दोलन में ये कार्य करते थे। हरनन्दन सिंह इसलिए कह रहा है कि रजनीकान्त को सरकार का विद्रोही माना जाये।)

मुरारीलाल ने हरनन्दन को हटाकर फिर भगवन्त सिंह से अकेले में बात शुरू की। मुरारीलाल ने कहा आप परेशान न हों, मैं उसे समझा कर ठीक कर दूँगा। लेकिन इतना कहने पर भगवन्त सिंह घबरा गया, उसका शरीर काँपने लगा, वह धरती की ओर देखने लगा। मुरारीलाल चौंक पड़े, पूछा—"आपको क्या हो गया ?" भगवन्त सिंह हाँफने लगा। फिर वह मुरारीलाल के पैरों पर गिर पड़ा, कहा—"सरकार, अब क्या होगा।" मुरारीलाल को आघात लगा—कहने लगे, "क्या कहता है बेईमान ? मैंने कहा था कि पट्टीदारी के मामले में भतीजे को मार डालो ?" भगवन्त सिंह ने धरती पर बैठकर मुरारीलाल का पैर पकड़ लिया। उसने भगवन्त सिंह को पैर से ठेल दिया। कहा—"जितना दिया है उससे चार गुना, इससे कम नहीं। और देखो, उस लड़के को चोट न लगे। मैंने उसी दिन उसे अदालत में देखा था...अगर वह मेरा लड़का हुआ होता...उसका वह सुन्दर स्वस्थ मुख...उसकी वह रतनार आँखे। एक बार किसी दिन यहाँ भी आया था...हाँ याद आ रहा है। नहीं, उठो (भगवन्त सिंह को उठाता है) चले जाओ, निकल जाओ। उसे चोट न आये...खड़े क्यों हो ? जाते क्यों नहीं ?"

भगवन्त सिंह ने उसके उत्तर में टूटते स्वर में कहा—"मैं आदमियों को कह आया था...अब तक तो वह मारा गया होगा।"

मुरारीलाल आहत हो गये, उन्होंने अपना शिर मेज़ पर रख दिया। फिर से भगवन्त सिंह को चेतावनी दी कि मोटर से चले जाओ, कदाचित् ईश्वर ने उसे बचा दिया हो, तो अब वैसा न होने दो। मुरारीलाल क्रोध में था, भगवन्त सिंह चला गया।

माहिरअली सूचना लेकर आया कि खाना तैयार है। मुरारीलाल ने दुःख से कहा—"इस बदमाश ने उसे मरवा डाला।" उसने भोजन मना कर दिया। इधर-उधर आलमारी की पुस्तकें उलटकर वह भीतर गया। तभी चन्द्रकला भीतर से बाहर आयी, वह सब कुछ अन्दर से सुन रही थी और जान गयी थी। वह बिना कहे ही रजनीकान्त की याद कर माहिरअली से बड़बड़ाने लगी—"मेरे मन में आया था कि बाबू जी से कह दूँ कि वह बेचारा झूठ नहीं, बिल्कुल सच कह रहा है। उसका हँसकर उनसे बातें करना...उठकर चला गया तो जैसे यह कमरा सूना हो गया। ...हाँ अगर मैं मर्द होती तो ज़रूर कह देती और देखती कि किस तरह यह कमीना राय साहब...राक्षस की तरह तो वह दुष्ट देखता है।" माहिरअली चला गया। मनोरमा ने एक चित्र लेकर प्रवेश किया, जिसको उसने बनाया था।

यह चित्र रजनीकान्त का है, चन्द्रकला के आग्रह करने पर मनोरमा ने स्वयं ही बहुत रुचि से तैयार किया है। चन्द्रकला ने चित्र को देखा, दुखी हुई, कहा, "अब तो व्यर्थ है, शायद वह संसार में नहीं रहा। उस दुष्ट राय साहब ने उसे मरवा डाला। इसीलिए दस हज़ार रुपये दे गया है," मनोरमा ने कहा,"हाय, उसका मूल्य केवल दस हज़ार। मैंने उस दिन उसे अमूल्य समझ लिया और इसीलिए निष्प्रयोजन यह चित्र बनाने लगी। कला के मूल्य के लिए संसार में जगह नहीं। तो अब इसे क्या करूँ ?" चन्द्रकला ने कहा, "मुझे दे दो...या अपने पास रखो। मनोरमा बोल उठी—"अपने पास ? यह आग ? और तुम्हारे पास भी नहीं, तुम क्या करोगी ?" इसके बाद उस चित्र के दर्शन में तथा रजनीकान्त के सौन्दर्य की स्मृति में दोनों डूब जाती हैं। चन्द्रकला कहती है—"उसका हँसना तो जैसे एक साथ जूही के असंख्य फूलों का बरसना था।" चित्र का नाम मनोरमा ने 'यौवन के द्वार पर' रखा था, चन्द्रकला ने कहा 'मृत्यु के द्वार पर' कर दो। चन्द्रकला रोने लगी। मनोरमा उसे समझा रही है। पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। चन्द्रकला सहसा कुर्सी पर बैठकर चित्र से अपना मुँह ढँक लेती है। मनोरमा उसका शिर सहलाने लगती है। तभी मुरारीलाल आ जाते हैं। चन्द्रकला जल्दी से उठती है और भीतर चली जाती है।

मुरारीलाल ने पूछा—"इसे क्या हो गया। मनोरमा ने बहाना बनाया कि मैं यहाँ से जाना चाहती हूँ इसी से यह उदास है।" मुरारीलाल मनोरमा से कुछ प्रेम-मीमांसा की बातें करता है, तब तक उसकी दृष्टि चित्र पर पड़ती है, रजनीकान्त का चित्र है जानकर, वह ओफ़ कहकर आह भरता है।

मुरारीलाल ने पूछा—"यह चित्र तुमने क्यों बनाया ?" मनोरमा स्पष्ट उत्तर नहीं देती। उसके उत्तर में कला या साहित्य के सृजन की सहज स्थिति का निरूपण

है—"कला की साधना अपने लाभ के विचार से नहीं होती। गुलाब खिल रहा था, वसन्त आ रहा था...उसे देखकर मेरी कल्पना और भावना उत्तेजित हो उठी...मैंने उसका चित्र बना दिया।" मनोरमा के इस उत्तर में रजनीकान्त के प्रति उसके आकर्षण की पुष्टि होती है। जो मुरारीलाल को अच्छा नहीं लगा, वह कहता है—"तुम भी एक समस्या हो...इसलिए मैं तुम्हें समझ नहीं पाता।" मनोरमा को मुरारीलाल के घर से विरक्ति-सी हो रही है, उसने अन्तिम उत्तर दिया कि मैं हृषीकेश जाऊँगी। मुरारीलाल इस उत्तर से चकित हुए, पहले तो उसने मनोरमा से चन्द्रकला को भेजने को कहा, लेकिन फिर स्वयं भीतर चला गया।

तब तक लखनऊ से मनोजशंकर आ गया, माहिरअली उसका बिस्तर और सूटकेस लेकर आ रहा है, वह आकर कुर्सी पर बैठा तथा बैठते ही मनोरमा के हाथ से रजनीकान्त का चित्र लेकर देखने लगा और बोला—माहिरअली इसी के बारे में बता रहा था। वह परीक्षा छोड़कर चला आया है। उसका आना जान कर मुरारीलाल और चन्द्रकला आ गये। मुरारीलाल ने कहा—"तुमने परीक्षा नहीं दी ? रुपया नहीं मिला क्या ?" मनोजशंकर बोला—"मैं कहता हूँ, पन्द्रह दिन हुए मुझे चार सौ रुपये आपने भेजे थे। फिर दो सौ और क्यों भेज दिये। आपको केवल छः सौ रुपये वेतन मिलता है और छः सौ आपने मुझे भेज दिये। घर का काम कैसे चलेगा ? (रजनीकान्त के चित्र को हाथ में उठा लेता है) यदि यह मारा गया हो तो इसमें आप का अपराध किस अंश तक होगा ?"

दोनों की बहस हो रही थी कि सामने से कई लोग एक डोला उठाये प्रवेश करते हैं, उसमें घायल और मरणासन्न रजनीकान्त पड़ा है। ये लोग डिप्टी कलेक्टर के यहाँ हत्या किये जाने की प्रत्यक्ष सूचना लेकर आये हैं। मुरारीलाल चौंक पड़े—"ऐं ! रजनीकान्त ! अन्त हो गया...मरवा ही डाला उस बदमाश ने ?"

चन्द्रकला मरणासत्र रजनीकान्त के पास जाती है। ख़ून से सराबोर है। वह आँखें खोलकर चन्द्रकला की ओर देखने लगता है। चन्द्रकला क्षणभर उसकी ओर देखती है, अपने को न सँभालकर रूमाल से अपना मुँह दबाकर भीतर चली जाती है।

दूसरा अंक

दृश्य स्थल वही है, समय सन्ध्या कां है। मनोजशंकर धोती कुरता पहने खड़े-खड़े बाँसुरी बजा रहा है। भीतर से मनोरमा उसके पास आती है और कहती है कि मुझे भी बाँसुरी बजाना सिखा दो।

यह अंक इस नाटक का महत्त्वपूर्ण कथा-भाग है, जिसमें मिश्र जी नारी-समस्या, नारी-प्रकृति, पुरुष की कमजोरी और भारतीय जीवन की आचार-संहिता के संकट

को गहराई से उभारकर सामने रखते हैं। चिरन्तन नारी क्या है, इसका उत्तर रजनीकान्त के प्रति निछावर चन्द्रकला के हृदय के निर्बन्ध उद्गार प्रकट करते हैं।

इन सभी सन्दर्भों को रंगमंच के शिल्प में संक्षेप और विक्षेप गति से अनुस्यूत किया गया है, अंक की कथा में शीघ्रता से परिवर्तित होती चार घटना-क्रमों की परिस्थितियाँ सम्पूर्ण नाटक को आलोकित करती हैं।

मनोजशंकर मनोरमा के प्रति अत्यन्त आसक्त है, इसीलिए वह बाँसुरी बजा रहा है। उधर चन्द्रकला रजनीकान्त की मरणासन्न स्थिति से बेहोश हो गयी है, डॉक्टर उसे आकर देख रहा है, डॉक्टर को आशंका है कि किसी भी क्षण उसके हृदय की धड़कन बन्द हो सकती है। माहिरअली अस्पताल से लौटकर समाचार देता है कि रजनीकान्त के बचने की आशा नहीं है। तभी हरनन्दन सिंह रायभगवन्त सिंह की तरफ से घूस के शेष चालीस हजार रुपये लेकर देने आ गया।

मनोरमा स्थिर चित्त होकर कामासक्त मनोजशंकर से वार्तालाप करती रहती है। उसका चरित मनोजशंकर से ऊँचा और पवित्र है। उसके वार्तालाप के कुछ अंश ये हैं, जो स्त्री-सुलभ हैं और विचारोत्तेजक हैं—

"चन्द्रकला उस लड़के पर इतनी रीझ गयी कि उसके लिए बीमार पड़ गयी। हम लोगों को अपने से महान् होना है मनोज ! तुम्हारे साहब भी मुझसे प्रेम करने लगे हैं।

"...मैं विधवा हूँ...इस ज्वालामुखी को यदि मैं कुछ समय के लिए छिपा भी लूँ...तब भी मैं किसकी बनूँ ? तुम्हारी या डिप्टी साहब की ? जहाँ तक मेरी बात रही, मैं तो उन्हें जी भर घृणा करना चाहती हूँ और तुमसे जी भर प्रेम। मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती, लेकिन प्रेमी बना लूँगी। कल मैं अवश्य चली जाऊँगी। इसका उत्तर तुम्हें आज देना होगा।"

डिप्टी साहब के विरोध की बात सुनकर मनोजशंकर और भी आकृष्ट हुआ। वह अपने पिता की आत्महत्या का रहस्य भी जानना चाहता है तथा मनोरमा अपनी बातों से उसे और भी अधिक आकृष्ट करती जा रही है। आगे वह जो बात कहती है तथा जिस भाव-अनुभाव में डूब जाती है, वह स्थिति भरत मुनि के रस-साधारणीकरण के सूत्र **'विभावानुभाव व्यभिचार संयोगाद् रस-निष्पत्तिः'** की संगति में प्रमाणित नहीं होती (फिट नहीं बैठती), उसकी संगति इस सूत्र से होगी—**भावानुभावावृत्त बुद्धिवाद संयोगात् समस्या-निष्पत्तिः।**

मनोजशंकर ने कहा कि तुम मुझे अपने से दूर हटा देना चाहती हो।

मनोरमा ने उत्तर दिया—मैं तो तुम्हारा हाथ पकड़कर संसार में उतर पड़ना चाहती हूँ। संसार के लिए एक नया आदर्श पैदा करना चाहती हूँ।...अगर तुम

सचमुच मेरे शरीर पर ही नहीं रीझ गये हो; तुमने मेरा हृदय, मेरी अन्तरात्मा को समझ लिया है तो हाथ बढ़ाओ या लो।

वह अपना हाथ बढ़ा देती है। मनोजशंकर मंत्र-मुग्ध की तरह उसका हाथ पकड़ लेता है।

तब मनोरमा फिर निर्लेप होकर कहती है—मैं चित्र बनाऊँगी, मैं विधवा हूँ और तुमको भी विधुर होना होगा और इस प्रकार हमारा सम्मिलन आज एक जीवन का नहीं, अनेक जीवन का हो गया।

मनोजशंकर मनोरमा की इन बातों से स्तब्ध चिन्तित होकर दूर आकाश की ओर देखने लगा। तब मनोरमा ने उसका कन्धा ज़ोर से पकड़ कर हिलाया और कहा, "चिन्ता नहीं,...हँस दो जीवन पर और जगत् पर।"

मनोजशंकर मनोरमा का हाथ पकड़े है तथा मनोरमा इसी प्रकार निर्भय होकर उसका कन्धा हिला रही है। तभी मुरारीलाल वहाँ आ जाते हैं।

मुरारीलाल ने बनावटी स्वर में तो केवल इतना कहा कि तुम लोगों ने तो यहाँ नाटक-घर बना दिया, पर उसके चेहरे पर अस्वाभाविक उद्वेग छा गया। मनोरमा भीतर चली गयी।

मनोजशंकर ने कहा, शायद अभी आप नाटक देखकर आ रहे हैं। इसलिए आपको नाटक-घर का भ्रम हो रहा है।

बातें चन्द्रकला की बीमारी की होने लगीं। डॉक्टर उसे देखने आया है और रोग को समझ नहीं पा रहा है। मनोजशंकर भी चन्द्रकला के पास गया था, खड़ा रहा, पर उसने इसकी ओर देखा नहीं। जो उसको अपमान लगा। मनोजशंकर बातों में पिताजी की आत्महत्या का प्रश्न भी खड़ा कर देता है।

मुरारीलाल ने मनोजशंकर के पिता की आत्महत्या का रहस्य तो टाल दिया। लेकिन् वह इसलिए बहुत उद्विग्न है कि मनोजशंकर चन्द्रकला से दूर हटता जा रहा है, जिसके लिए ही इतना षड्यन्त्र और अनर्थ हुआ। मनोजशंकर अपनी बातों से मुरारीलाल को और निराश करता है, उसके उत्तर में इस बात का गहरा विषाद है कि वह इस तरह चन्द्रकला को नहीं आकर्षित कर सका, जिस तरह रजनीकान्त की मुस्कान ने उसका चित्त हरण कर लिया, वह इसे अपनी बहुत बड़ी हार मानता है, कहता है—"चन्द्रकला के मन में कोई जगह नहीं बना सका इसलिए नहीं कि मुझमें पुरुषत्व नहीं है, या मुझमें वह कला-कौशल न था, जिससे एक और एक हज़ार चन्द्रकला आँचल पसार कर भीख माँगती हैं। मेरे पास एक वस्तु न थी, रजनीकान्त की मुस्कान में जो जादू था, उसकी हँसी में जो कम्पन, जो मस्ती थी, उसकी अबोध आँखों में उसके अबोध हृदय का जो आशापूर्ण प्रतिबिम्ब था वह

मेरे पास न था। मेरी शिक्षा, संस्कार, सब ओर से मेरा संयम और बड़प्पन, बेकार साबित हुआ। रजनीकान्त एक सुन्दर सपने की तरह एक अधूरी तान की तरह उसके सामने आया और क्षण भर में वह जीत गया...मैं हार गया।" आगे मुस्करा कर कहता है कि "स्त्री के लिए ज्ञान और विद्या का कोई मूल्य नहीं है। प्लेटो के प्रजातन्त्र में कवि को कोई स्थान नहीं मिला था...स्त्री के प्रेम-तन्त्र में बुद्धि और ज्ञान को कोई स्थान नहीं मिला है।" मनोजशंकर का यह मानसिक द्वन्द्व स्त्री के चहेते युवक (पुरुष) का चिरन्तन सत्य है। नाटककार ने इसे अत्यन्त सुकुमार और तीव्र अभिव्यक्ति दी है।

मुरारीलाल तथा मनोजशंकर के बीच चन्द्रकला की बीमारी को लेकर बात होने लगती है। मनोजशंकर ने कहा, "डॉक्टर गलत कहते हैं, डॉक्टर ने उसकी बीमारी को नहीं समझा।" उसकी बात डॉक्टर से भी होती है। मनोजशंकर कहता है कि आप सब हट जाइए। मैं चन्द्रकला को लेकर टहलने निकलता हूँ, अभी वह साथ में नदी की ओर टहलने चल देगी। वे सब हट जाते हैं। फिर उसे टहलने के लिए राजी कर लेता है। वह तैयार होने के लिए भीतर चली जाती है। तब तक मनोजशंकर की मनोरमा से विधवा-विवाह पर बात होती है। मनोरमा विधवा-विवाह का विरोध करती है, जो कि नाटककार का अपना पक्ष है, मनोरमा कहती है— "विधवाओं के उद्धार के नाम पर यह आन्दोलन पुरुषों ने उठाया है अपने उद्धार के लिए। किसी प्रकृत विधवा से पूछो, जो अभी तक पुरुषों के विषैले वातावरण में न आयी हो...देखो उसकी दृष्टि पृथ्वी में गड़ जाती है या नहीं।"

इसके बाद वह मनोजशंकर को समझाती है कि वह चन्द्रकला को हृदय से अपना ले, वह कहती है कि "ऐसा अनुमान करना कि वह रजनीकान्त को पुरुष के रूप में प्रेम करने लगी है...ठीक नहीं है। उसके हृदय पर उसकी हँसी और सरलता, साथ ही साथ उसके सुन्दर शरीर का मोहक प्रभाव पड़ा था, जो समय के साथ ही साथ स्वयं मिट भी जाता। लेकिन उसका घायल हो जाना और वह भी सांघातिक रूप में, जिसमें बहुत कुछ दोष उसके पैदा करनेवाले मुरारीलाल महाशय का है। यह सब मिलकर पहाड़ हो उठा...वह सम्भाल नहीं सकी। बहुत कुछ बुराई तो मेरे चित्र से हुई। शिव ने जैसे विष पचा लिया, उसी तरह तुम भी इस बुराई को पचा लो, इससे तुम्हारा पुरुषत्व दमक उठेगा।"

मनोरमा के यह कहते-कहते टहलने के लिए तैयार होकर चन्द्रकला आ गयी। मनोजशंकर यह कहते हुए कि "कब की आयी हो, आओ चलें।" उसका हाथ पकड़ कर बाहर चला गया।

इस सन्दर्भ से मनोरमा के विशाल ह्रदय का पता चलता है, वह किसी प्रकार चन्द्रकला का अनिष्ट नहीं होने देना चाहती। मनोजशंकर को राजी करने में उसकी समस्त भूमिका है। मुरारीलाल ने इसी समय प्रवेश किया और मनोरमा का जैसे अनुगृहीत होते हुए कहा—"तुम्हारा यहाँ आना मंगल हुआ।"

मनोरमा ने कहा—"मैं अपनी प्रशंसा नहीं चाहती। मुझसे जिस किसी का जो उपकार हो जाये। विधवा-जीवन तो केवल सेवा और उपकार का है।"

मनोरमा चली गयी, मुरारीलाल जैसे ही बाहर बरामदे में कुर्सी पर बैठा, अस्पताल से माहिरअली आ गया, पूछने पर बताया—"घाव तीन इञ्च लम्बा और आध इञ्च चौड़ा है, शायद बच जाये।"

फिर उसने दूसरी ख़बर दी कि 'राय साहब मिलना चाहते हैं। आपने जो कहा था शायद चालीस हज़ार आ गया है। मैंने तो कह दिया, साहब ऐसे रुपयों पर लात मारते हैं।"

लेकिन मुरारीलाल उस रुपये को लेने के लिए लालायित है, कहता है... अच्छा अपने लिए नहीं, तुम्हारी ही बात सही, रजनीकान्त के लिए यह रुपया उससे ले लिया जाये। मरने की कोई सम्भावना है नहीं उसके...।

माहिरअली कहता है—मुमकिन है वह मर जाये।

मुरारीलाल जो लालच में डूबा है, फिर कहता है—"मरना होता तो अब तक मर गया होता। मैं सोचता हूँ, इससे बढ़कर उस बेईमान को कोई दूसरी सज़ा दी नहीं जा सकती। मैंने सोच लिया, इसमें कोई बुराई नहीं है। तुम जाओ।"

माहिरअली—"मैं जाऊँगा, लेकिन इसका नतीजा ? वह चारों ओर से घेर कर मारा गया है। जान का ख़तरा हो सकता है।"

मुरारीलाल पर इन बातों का कोई असर नहीं पड़ता, नाटककार ने यहाँ उसके नैतिक पतन को उघार कर रख दिया है, वह अन्तिम रूप से माहिरअली को आदेश-सा देता है—"ठीक है उसको कई ओर से सज़ाएँ मिलें, जाओ, खड़े क्या हो ?"

माहिरअली चालीस हज़ार लेने चला जाता है। नाटककार ने घटनाओं की प्रकृति और प्रभाव को ठीक-ठीक आँका है। मुरारीलाल घूस लेने में नैतिक पतन के लिए इसलिए उत्साहित हो जाता है कि उसके सामने उसकी पुत्री चन्द्रकला मनोजशंकर के साथ हाथ पकड़ कर टहलने निकल जाती है, जो कि उसे अभीष्ट है और जिसके लिए वह चिन्तित था तथा अब निश्चिन्त होकर चालीस हज़ार लेने के लिए प्रफुल्लित है एवं मुंशी माहिरअली से इसके पक्ष में दूसरे तरह के तर्क देता है।

तीसरा अंक

वही दिन, वही दृश्य-स्थल है। रात्रि के 10 बजे हैं, बरामदे में लालटेन जल रही है (तब बिजली नहीं आई थी)। माहिरअली चुपचाप बरामदे में बैठा है, तब तक मनोरमा आकर लालटेन के प्रकाश में खड़ी हो जाती है। माहिरअली कहता है—"आज की रात परलय है...किसी को बोलना नहीं चाहिए।" मनोरमा बाहर निकलना चाहती है, माहिरअली उसे रोकता है। तब तक चन्द्रकला और मनोजशंकर टहल कर आ जाते हैं। मनोजशंकर ने लालटेन उठाकर माहिरअली के मुख की ओर किया तो देखा कि वह रो रहा है, पूछता है—"अरे ! तुम रो क्यों रहे हो ?" माहिरअली ने कहा—"दुनिया किस्मत को रोती है...मैं भी रो रहा हूँ।" फिर उसने चन्द्रकला की ओर देखते हुए कहा—"इधर रायसाहब भगवन्त सिंह ने चालीस हज़ार दिया है साहब को, उधर अस्पताल से ख़बर आयी है कि उसकी हालत ख़राब हो गयी। मौत के वक़्त का बयान लेने फ़ौरन आइए।"

माहिरअली की इस सूचना से चन्द्रकला घबड़ा उठती है जब कि वह अस्पताल से रजनीकान्त को देखकर ही लौटी है, तब उसकी हालत ऐसी ख़राब नहीं थी।

चन्द्रकला उद्विग्न होकर भीतर चली जाती है, माहिरअली रजनीकान्त की घटना से आहत होकर मनोजशंकर के पिता की आत्महत्या का रहस्य खोल देना चाहता है, मनोजशंकर के हठ करने पर कहता है कि चलिए आप भी अस्पताल। रास्ते में सब कह दूँगा।

तब तक चन्द्रकला भीतर से कामदार नीले रंग की साड़ी पहनकर आती है। मनोजशंकर ने विस्मय से उसकी ओर देखते हुए कहा—"चलोगी अस्पताल ?"

चन्द्रकला ने कहा—"घंटे भर से ऊपर वहाँ रही हूँ...अब किसलिए। अब मैं जाकर जिला तो दूँगी नहीं।"

मनोजशंकर फिर बोला—"मालूम होता है, उतना समझाना व्यर्थ हो गया।"

चन्द्रकला गम्भीर होकर कहती है—"जाओ, जाते क्यों नहीं ? समझाने का अभी बहुत समय है। मैं आज नहीं मर जाऊँगी।"

मनोजशंकर चला गया। चन्द्रकला बहुत उद्विग्न तथा अस्वाभाविक मनःस्थिति में है। उसकी बात मनोरमा से होती है। मनोरमा का प्रश्न था—"ओह ! तो तुम्हारा मनोज बाबू से समझौता नहीं हो सका ? तुम अब भी उसी मोह में।"

बातें आगे बढ़ीं, चन्द्रकला ने कहा—"मनोरमा, तुम्हारा आदर्श मेरे सामने

हैं। तुम आठ वर्ष की अवस्था में विधवा हुई थी और मैं आज बीस वर्ष की अवस्था में विधवा हो रही हूँ। तुम्हारा निभ गया और मेरा नहीं निभेगा।''

दोनों के प्रश्न-उत्तर होते हैं—

मनोरमा—मेरा विवाह हो चुका था।

चन्द्रकला—तो विवाह तो मेरा भी हो गया। हज़ार-दो हज़ार आदमी भोजन न कर सके, थोड़े से मन्त्र और श्लोक न पढ़े गये। यही न ?

मनोरमा—तब विवाह कैसे हुआ ?

चन्द्रकला (मुस्कराकर)—विवाह की कई प्रणालियाँ हैं। हमारे यहाँ पहले प्रचलित थीं अब ज़रूर रुक गयी हैं लेकिन...ख़ैर मेरा तो हो गया जी।

मनोरमा—बहन, सावधान होने की ज़रूरत है।

मनोरमा आश्चर्य में है। चन्द्रकला उन्माद के जैसी स्थिति में है। अँगड़ाई लेती है। कुर्सी पर बैठकर गर्मी के कारण शिर के ऊपर से साड़ी हटा देती है। तब मनोरमा ध्यान से देखकर कहती है—''तुम्हारे शिर पर सिन्दूर कैसा ?''

चन्द्रकला—मेरा विवाह जो हुआ है।

मनोरमा—कहाँ ?

चन्द्रकला—अस्पताल में।

मनोरमा—मुझे तो काठ मार गया।

चन्द्रकला गम्भीर होकर धीमे स्वर में इस सारे घटना-क्रम का विवरण देती है—''मैं अपने साथ सिन्दूर लेती गयी थी। सरकारी अस्पताल की हालत तो तुम जानती हो जैसा प्रबन्ध रहता है रोशनी का और चीज़ों का। पास में एक लालटेन रखी थी और कोई कम्पाउण्डर उठा ले गया। मुझे मौका मिल गया, उनके हाथ पर सिन्दूर रखकर मैंने लगा लिया। देखती नहीं हो, कैसी सिन्दूर की होली खेली गयी है।''

मनोरमा बहुत उद्विग्न हो जाती है। चन्द्रकला शान्त और संयत है। यहाँ दोनों के संवाद में नाटककार ने नारी-समस्या और नारी-चरित के गहन एवं पवित्र धारणाओं को उजागर किया है। कुछ वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

मनोरमा ने चन्द्रकला को कुछ बोलने से मना किया, उसने कहा—''तुम्हारा चित्त स्थिर नहीं है...इस समय चुप रहो।''

चन्द्रकला चुप क्यों रहती, वह विषाद में थी तथा भाव के आवेश में भी, वह अपनी तर्कयुक्त बातें आरम्भ करती है, भीतर जाती है बाहर आती है। साड़ी का आँचल हिलाती है लालटेन उठाकर शीशे में अपना मुँह देखती है, जो वस्तुतः प्रिय के प्रति समर्पण के अनुभाव हैं। मनोरमा बाहर जाकर फिर आती है। इस बीच

उनकी बात के महत्त्वपूर्ण अंश ये हैं—

चन्द्रकला—तुम्हारा विधवापन तो रुढ़ियों का विधवापन है, वेदमन्त्र का और ब्रह्मभोज का। जिस पुरुष को तुमने देखा नहीं, जिसकी कोई धारणा तुम्हें नहीं है, जिसकी कोई स्मृति तुम्हारी आत्मा को हिला न सकी। उसका वैधव्य कैसा ? मेरा वैधव्य...वह निर्विकार मुस्कुराहट, यौवन और पुरुषत्व के विकास की वह स्वर्गीय आशा, मैं कल्पना करती हूँ पच्चीस वर्ष की अवस्था में वह शरीर और वह हृदय कैसा होता...इसीलिए कहती हूँ कि मेरा वैधव्य सार्थक है।

मनोरमा—तुम्हारा वैधव्य तुम्हारा स्वर्ग हो सकता है। मैं विधवा हुई थी एक बार, मेरे किसी दूसरे वैधव्य की सम्भावना नहीं हो सकती। लेकिन तुम जो उनके मोह में पड़ गयी, केवल एक बार देखकर, तुम क्या समझती हो ? वैसी हँसी, मुस्कुराहट, शरीर की सुन्दरता और उसका विकास, आँखों की बिजली और बालों का उन्माद, उस कोटि का इतने बड़े संसार में दूसरा न होगा ? और तुम्हारी दानशील प्रवृत्ति वहाँ भी न उलझ जायेगी। इसलिए मैं एक बार विधवा हुई, लेकिन तुम्हारे साथ अनेक बार विधवा होने की सम्भावना है। स्वतन्त्र स्त्रीत्व, आज दिन के नये विचार, जो संसार को एकदम स्वर्ग बना देना चाहते हैं, उनमें से एक है। लेकिन इस नये स्वर्ग की कल्पना के मूल में कोई आदर्श नहीं है।

चन्द्रकला ने कहा—शास्त्र और संस्कार मेरा मत है, मेरी आत्मा को जो स्वीकार...बस और कुछ नहीं...।

मनोरमा ने समझाया—अँग्रेज़ी में आत्मा की भावना अनादि की नहीं है... हमारे यहाँ तो आत्मा अनादि और अनन्त है, आजकल के जिन लोगों को अँग्रेज़ी की शिक्षा मिल गयी है...हमारे यहाँ वे भी आत्मा को खिलौना बना रहे हैं। कहते हैं कि अपनी पुरानी आत्मा को मार डालो, नहीं तो कल्याण नहीं। तुम भी शायद उसी तरह...।

इसके पूर्व भी चन्द्रकला ने इसी अंक में इसी सन्दर्भ में मनोरमा से रजनीकान्त के प्रति अपने समर्पण की सफ़ाई में परम्परा की बात कही है—"राम और सीता का, दुष्यन्त और शकुन्तला का, नल और दयमन्ती का, अज और इन्दुमती का प्रेम प्रथम दर्शन में ही हुआ था। स्त्री का हृदय सर्वत्र एक है, क्या पूर्व, क्या पश्चिम, क्या देश, क्या विदेश ?"

इस तरह मनोरमा और चन्द्रकला नाटक के दोनों स्त्री-पात्र अपने आचरण, संकल्प और जीवन-धर्म की ऊँचाई में एक दूसरे के प्रति स्पर्धा करते हैं। दोनों में अपने देश के सनातन आदर्शों के प्रति निष्ठा है। दृष्टि में भिन्न है। मनोरमा में

चन्द्रकला के प्रति करुणा है, वह उसके भावी जीवन को नष्ट होते नहीं देखना चाहती। नाटककार ने दोनों स्त्री पात्रों को उनकी स्वाभाविक मनोभूमि पर प्रस्तुत किया है, यह बहुत बड़ी बात है, उनकी मनोभूमि को पहचानने में तनिक भी त्रुटि नहीं होती, कहीं से उनको अपनी ओर से कुछ भी गढ़ा या तराशा नहीं गया है।

दोनों की बात हो रही थी कि बाहर मोटर की आवाज़ हुई, मुरारीलाल आ गये। उनका चेहरा उतरा हुआ था, आँखें कठोर हो गई थीं। मनोरमा हटकर भीतर जाती है। चन्द्रकला रह जाती है।

मुरारीलाल क्रोध में चन्द्रकला से कहते है—"मेरे सामने लाज आ रही है और भरे अस्पताल में उसके शिर पर हाथ रखने में, उसके तलवों को सहलाने में लाज नहीं आयी। दुनिया जान गयी कि मेरी लड़की अस्पताल में एक मारे हुए लड़के की सहानुभूति में वहाँ तक खिंच गयी थी। मैं कल किस मुँह से कचहरी जाऊँगा। (घूर कर) सारा दिन स्वाँग किये रही और शाम को घूमने गयी अस्पताल में।"

चन्द्रकला भीतर चली गयी, मुरारीलाल जाने लगे तो उनको रोकती हुई मनोरमा आ गयी। उनको जाने से तथा कुछ कहने से मना किया, जिससे कुछ अनर्थ की घटना न घटित हो जाये। मनोरमा के पूछने पर मुरारीलाल ने संयत होने के बाद रजनीकान्त का बयान सुनाया कि उसने पूछने पर भी किसी मारनेवाले का नाम नहीं बताया, "नाम बतलाना मैं नहीं चाहता। मेरे परिवार में केवल दो स्त्रियाँ हैं। कोई बच्चा भी नहीं है। मेरे परिवार की सारी आशाएँ मेरे साथ जा रही हैं। मैं नहीं चाहता कि दूसरे की आशाएँ भी अपने साथ लेता जाऊँ।"

तब तक माहिरअली और मनोजशंकर आ गये। पिता की आत्महत्या का रहस्य माहिरअली से मनोजशंकर को मालूम हो गया है। अब मुरारीलाल को दूसरा आघात लगता है, जब मनोजशंकर कहता है—"दस वर्ष बीत गये। अपने मित्र को भाँग पिला कर नाव से नदी में ठेल दिया था। केवल आठ हज़ार रुपया पचा लेने के लिए। आप उस समय भी डिप्टी कलेक्टर थे।"

मुरारीलाल कुर्सी पर गिर पड़ते हैं, सँभलने के बाद कहते हैं—"मैं बराबर प्रायश्चित करता रहा हूँ। तुम जानते हो मेरा व्यवहार जैसा तुम्हारे साथ...मेरी इच्छा थी कि चन्द्रकला से तुम्हारी...मैं सब ओर से अभागा था।...मनोज ! मैं अपना सब कुछ तुम्हें दे रहा हूँ। मुझे क्षमा कर दो। एक लड़की थी वह भी नहीं सँभल सकी।"

मनोज ने उसकी कोई वस्तु लेना इनकार कर दिया।

इसी बीच चन्द्रकला आ गयी, कामदार साड़ी और चन्द्रहार पहने थी। सामने

से शिर खुला था, पीछे जूड़ा ढँके थी। मनोजशंकर ने आगे बढ़कर उसके शिर को देखा तो दीवाल के सहारे खड़ा हो गया।

मुरारीलाल ने चन्द्रकला की ओर देखकर कहा—"मेरी मर्यादा तुमने बिगाड़ दी और मुझे कहीं का न छोड़ा।"

चन्द्रकला संयत और निर्भय होकर उत्तर देती है—"मैं तो सदैव आपके लिए प्रायश्चित करती रही हूँ। (मनोजशंकर की ओर हाथ उठाकर) इनके बाप की हत्या आपसे हुई और उसका बदला ये लेते रहे मुझसे, बार-बार मुझे ठोकर मारकर। अस्पताल में मैं गयी थी, जैसा कि आप देख रहे हैं, मेरे शिर पर यह सिन्दूर उस पचास हज़ार रुपये का प्रायश्चित है। मेरा कोई भी काम ऐसा नहीं हुआ है जो कि आपके लिए... ।"

चन्द्रकला इतना कह कर चुप हो जाती है। मनोरमा खम्भे पर शिर रख देती है। मुरारीलाल का कंठ रुँध जाता है। मनोजशंकर बाँसुरी निकाल कर बजाना चाहता है, जैसे उसको अपने साथ सबके विनाश में खुशी है अथवा वह विषाद के उन्माद में है, ठीक स्पष्ट नहीं होता।

मुरारीलाल के संक्षिप्त प्रश्न 'अब क्या होगा' का, चन्द्रकला संक्षिप्त संयत उत्तर देती है—"आपने कृपाकर मुझे शिक्षा इतनी दे दी है कि मैं अपना निर्वाह कर सकूँ।"

नाटक समाप्त हो जाता है।

विश्लेषण

कुल मिलाकर *सिन्दूर की होली* अद्भुत, गहन, गम्भीर, सामान्य से परे नाटक है तथा उसके पात्र अत्यन्त सहज हैं और स्वाभाविक मनोवृत्ति की प्रकृत भूमि पर विचरते नज़र आते हैं। वह अपने वर्तमान को तथा अतीत की सहस्रों वर्षों की परम्परा को एक साथ एक ही दीप की लौ से प्रकाशित कर देता है। ऐसा कोई नाटक न संस्कृत में है, न हिन्दी में। इसकी अनेक विशेषताएँ हैं, जो सर्जना के क्षण की अनजानी पारदर्शिता का प्रमाण हैं। कुछ विश्लेषण नीचे किया जाता है—

इसी कहानी को लेखक वहाँ से भी शुरू कर सकता था, जहाँ पहली बार रजनीकान्त डिप्टी कलेक्टर से मिलने आया और चन्द्रकला उसे देखकर न केवल मोहित हुई, वरञ्च अपने आपको उसे समर्पित कर दिया। ऐसा होने पर नाटक परम्परागत शिल्प की एक विशेष कृति मात्र रह जाता, वही नायक-नायिका का प्रेम, मिलन, वियोग, दुःखान्त परिणति। तब मिश्र जी अभिनव शिल्प के जन्मदाता

न होते, न ही *सिन्दूर की होली* नाटक नितान्त मौलिक कृति हो पाता, न ही यह नारी की चिरन्तन ज्वलन्त समस्या की रचना बन पाता।

हम यह नहीं कह सकते हैं कि चन्द्रकला का प्रेम एकान्तिक (एक पक्षीय) है, रजनीकान्त को उसका ज्ञान नहीं है, वह उसके प्रेम से परिचित और अभिभूत है। घायल तथा अर्धमूर्च्छित अवस्था में जब वह डोली में डिप्टी कलेक्टर के बँगले पर लाया गया था, तब चन्द्रकला उसके पास आयी थी, चन्द्रकला के आते ही उसने आँखें खोल दी थीं और उसकी ओर देखने लगा था। अस्पताल में भी चन्द्रकला ने उसकी चेतनावस्था में उसके जानते उसके हाथ पर सिन्दूर रखकर उसी हाथ से अपनी माँग पर सिन्दूर लगाया था।

साहित्य या कला की प्रत्येक विराट् अमर कृति गहनतम अभाव के अन्तराल से जन्म लेती है। काम उसमें कहीं न कहीं अवश्य सन्निविष्ट होता है। कालिदास के *रघुवंश* महाकाव्य की रचना का क्रम तब अवतरित हुआ, जब सब ओर से शक्तिमान, प्रजापालक और वंश की धर्म-मर्यादाओं का अनुसरण करने वाला सम्राट् दिलीप पुत्र के अभाव में दुःखी हो उठा। ऋषि वशिष्ठ के आश्रम में जाने पर, जब ऋषि ने ध्यान लगाया, तो पता चला कि दिलीप जब इन्द्र के यहाँ से लौट रहा था, तब उसने रास्ते में कल्पतरु की छाया में बैठी कामधेनु की न तो परिक्रमा की, न प्रणाम किया, कामधेनु ने राजा को पुत्र न होने का शाप दे दिया। राजा उस समय ऋतुस्नाता पत्नी का ध्यान रख लौटने की जल्दी में था। इस सन्दर्भ के मूल में भी काम है। बाण की अमर रचना *कादम्बरी*-कथा का नायक शूद्रक ठीक-ठाक राज्य का संचालन कर रहा था, पर कवि के कथा-सूत्र का जन्म तब हुआ, जब यह जाना गया कि इस शूद्रक में युवा होकर भी युवतियों के प्रति आकर्षण का नितान्त अभाव है, जैसे नारी-जाति से उसका वैर है, उसने विवाह के अनेक प्रस्तावों को ठुकरा दिया था, लेकिन एक दिन उसने पिंजड़े में शुक लेकर आयी चाण्डाल-कन्या को राज-सभा में आने की अनुमति प्रदान कर दी। एक ओर अभाव, दूसरी ओर उसके विपरीत भाव का विषम संघट्ट कथा की ऐसी अमर रचना करा देता है, जिसको सहृदय जन बार-बार पढ़ते थकते नहीं। यहाँ भी मूल में नारी और काम का सन्दर्भ है। रामायण की महान् अमृत गाथा का सन्दर्भ भी ऐसा ही है, राम के विवाह मात्र से ऐसा कुछ नहीं था, जिससे वह गाथा सदा के लिए अमर हो जाती, अमरता तो कैकेयी के प्रति दशरथ की काम-तृष्णा ने दिया, जिसके पर-वश होकर उनको राम को वन भेजने की स्वीकृति देनी पड़ी।

सिन्दूर की होली नाटक की रचना में भी काम का गूढ़ सन्दर्भ संयुक्त है,

चन्द्रकला का रजनीकान्त के प्रति गहन आकर्षण तथा अन्त में उसके हाथ से माँग में सिन्दूर पहन कर सदा के लिए उसकी ही हो जाने का आत्मार्पण नाटक का मुख्य प्रतिपाद्य है, लेकिन इसके साथ नाटक में समानान्तर दूसरी कथा भी चलती रहती है, जो प्रशासक-पद पर नियुक्त डिप्टी कलेक्टर मुरारीलाल के चरित्र के पतन की कहानी है, यह नाटक की मुख्य कथा का अंग या विरोध-पक्ष ही है, दूसरे अंक के अन्त में जब माहिरअली चालीस हज़ार रुपये पर लात मारने को कहता है, तब मुरारीलाल उस चालीस हज़ार रुपये को लेने के लिए नया फार्मूला गढ़ता है कि रजनीकान्त जीवित रहेगा, वह रुपया उसे दे दिया जायेगा और राय भगवन्त सिंह के लिए एक तरह से यह सज़ा होगी। माहिरअली कहता है कि रजनीकान्त के जीने की सम्भावना नहीं है, तब भी वह रुपया ले लेता है। तीसरे अंक की समाप्ति पर चन्द्रकला, उसको उत्तर देती है कि मेरी माँग का यह सिन्दूर आपको दिये गये पचास हज़ार रुपये का प्रायश्चित्त है। मनोजशंकर, जिसको वह चन्द्रकला का पति बनाना चाहता था, वह उसे अपने पिता का हत्यारा जानकर उसका तिरस्कार करता है और उसके चतुर्मुख पतन तथा पापों का रहस्य खुल जाने पर आनन्द की बंशी बजाना चाहता है। संस्कृत में शूद्रक के नाटक *मृच्छकटिक* में भी दो समानान्तर कथाएँ हैं, एक है वसन्त सेना तथा चारुदत्त का प्रेम और दूसरी कथा है, शर्विलक द्वारा आर्यक के पक्ष में किया गया राज्य-विप्लव, जिससे तख़्ता ही उलट गया तथा चारुदत्त को प्राणदण्ड से बचाया जा सका।

मृच्छकटिक की सुखान्त कहानी अन्त में हमें आनन्द में विभोर कर देती है। *सिन्दूर की होली* नाटक की दुःखान्त परिणति हमें नाटक में आयी परिस्थितियों तथा तज्जन्य समस्याओं को सोचने-समझने के लिए बाध्य करती है और विचारों में डुबो देती है। पर इस नाटक का शिल्प *मृच्छकटिक* की अपेक्षा चुस्त है। कहा जाये तो कह सकते हैं कि न कम है न ज़्यादा—**अन्यूनानातिरिक्त मनोहारिण्यवस्थितिः।**

मृच्छकटिक के लिए अतीत का होना, उसके अतिरिक्त सौन्दर्य का हेतु है। *सिन्दूर की होली* को, उसका वर्तमान का होंना सामान्य मूल्यवत्ता में ला देता है। जो सामने प्रस्तुत है, उसकी क़ीमत ज़्यादा नहीं होती।

सिन्दूर की होली में इस प्रेम-कथा से अतिरिक्त कृतिकार का सर्वथा नया रूप बौद्धिक पक्ष है, जिसमें 'नारी क्या है ? भारतीय नारी क्या है ?' अथवा इसको यों कहें कि नारी को पश्चिम ने अधिक समझा है या पूर्व (भारत) की नारी ही नारी का सहज रूप है—इस गहन पक्ष की मीमांसा घटनाओं के उतार-चढ़ाव में होती है। कृतिकार ने कोई आदर्श नहीं रखा है, न वह किसी यथार्थ का पक्षधर है, वह सहज

भाव और सहज कर्म की पहचान में मनोरमा और चन्द्रकला के अन्तरतम के निकट पहुँचना चाहता है। दोनों एक समान बीस वर्ष अवस्था की हैं, एक विधवा है और दूसरी विधवा होना चाहती है। दोनों के वैधव्य के कारण और स्वरूप भिन्न हैं। चन्द्रकला की शिक्षा बी. ए. तक की है, एक तरह से वह आधुनिक है, लेकिन आधुनिक से अधिक वह नारी है। इसका प्रमाण नाटक के कई प्रसंगों में है। विशिष्ट प्रसंग वह है, जहाँ मनोरमा उसको भावना और विक्षोभ की आँधी में उड़ने से मना करती है, उसके भविष्य के सुख के लिए वह चाहती है कि चन्द्रकला अब भी अपने निश्चय से हटकर मनोजशंकर से समझौता कर ले, लेकिन चन्द्रकला तब भी हृदय की किसी गहन आसक्ति से कई बार लालटेन के प्रकाश में मुख को शीशा के सामने कर देखती है, मुख क्या देखती है, माँग के सिन्दूर को देखती है। यह सब नारी के सहज भाव-अनुभाव हैं। कृतिकार अपनी ओर से कुछ नहीं कहता, न ही किसी पात्र को अपने अनुसार गढ़ता है। सभी सहज रूप में आते हैं। भविष्य में जब कोई पूर्वग्रह से मुक्त मर्मज्ञ आलोचक इस नाटक को पढ़ेगा—समझेगा तब भी इस नाटक के सुषमा-मंडित नये अन्य पक्ष उजागर होते रहेंगे।

पौराणिक-सांस्कृतिक कृति

नारद की वीणा

नारण की वीणा तीन अंकों का नाटक है, तीनों अंकों में दृश्य का स्थल एक ही है और वह है नैमिषारण्य में महर्षि नारायण का आश्रम एवं गुरुकुल। इस आश्रम में ज्ञान, विज्ञान तथा अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी जाती है। इसकी कथा के सूत्र पुरा काल के पुराण तथा इतिहास दोनों से जुड़े हैं तथा इसका बौद्धिक पक्ष वर्तमान के सन्दर्भों से ओत-प्रोत है, जिसमें नाटककार यह अभिव्यक्ति देता है कि शक्ति और संस्कृति के बल से एक जाति दूसरी जाति को विजय करती है, किन्तु संस्कृति के बल से जो विजय प्राप्त की जाती है, वही सच्ची विजय है। एक तरह से बिना कुछ कहे मौन रूप से कृतिकार ने अँग्रेज़ों की पश्चिमी कल्चर से हमें सावधान रहने को कहा है। संक्षेप में इसकी कथा इस प्रकार है—

पहला अंक

नैमिषारण्य में मर्हिष नारायण का आश्रम है। प्रातःकाल का समय है। पर्वत, नदी,

वन और मैदान का दृश्य। वृक्षों के नीचे चबूतरे हैं। शालवृक्ष की वल्लियों तथा देवदारु के पल्लों से बने कुटीर हैं। फूस के छज्जे भी हैं। पेड़ के नीचे चबूतरे और उन पर बाघाम्बर बिछे हैं, जिन पर बैठकर अध्ययन होता है। शमीवृक्ष के नीचे चबूतरा और अग्निहोत्र के लिए यज्ञ-कुण्ड है।

दो छात्र यज्ञकुण्ड में अग्निहोत्र कर रहे हैं।

इन दोनों छात्रों का नाम सुमित्र और सोमश्रवा है। ये दोनों आर्यकुमार हैं। अन्य आर्यकुमार भी हैं। एक अन्य आर्यकुमार अरुण तथा आर्यकुमारी चन्द्रभागा हैं। सभी इस नाट्यकथा के पात्र हैं। संकृत आर्य ऋषि (अध्यापक) हैं।

इस आश्रम के अधिष्ठाता आर्य से इतर हैं, उनका नाम नारायण है, उनके शिष्य नर हैं, नर के शिष्य विजयकीर्ति हैं। देवदत्त आश्रम के व्यवस्थापक हैं। ये सभी आर्येतर जाति के हैं। आश्रम में शास्त्र और शस्त्र दोनों की शिक्षा दी जाती है। वीणा-वादन, चित्र तथा नृत्यकला की शिक्षा भी होती है, जिससे आकर्षित हो कर आर्यकुमार गान्धार, मद्र तथा सप्तसिन्धु से यहाँ आते हैं।

देवर्षि नारद, राजा प्रह्राद तथा उसकी पत्नी मेनका ये तीन नाटक के दूसरे पात्र हैं, जो वैष्णव हैं।

इस प्रकार नाटक में तीन संस्कृतियों की एकता का आख्यान और उसकी परिणति है। आर्य-संस्कृति विजेताओं की संस्कृति है। नारायण और नर वैष्णव नहीं हैं और न ही नाटककार ने उनकी किसी जातीयता अथवा संस्कृति का अभिधान किया है, लेकिन जैसा कि आर्य-ग्रन्थों में अर्जुन और कृष्ण को नर-नारायण का अवतार कहा जाता है तथा कृष्ण सात्वत धर्म या संस्कृति के प्रतिष्ठापक हैं, वैष्णवों से भिन्न नर-नारायण भी वही हैं। इन सबकी संस्कृति ने आर्यों को आत्मसात् कर लिया, उनकी शस्त्र की विजय, संस्कृति के अनुराग से पराजित हो गयी। इन तीनों का समन्वित रूप आज के भारतीय जीवन के आदर्शों में पाया जाता है, जिसका निष्कर्ष है कि संस्कृति ही एकता का मूल है तथा संस्कृति की विजय शस्त्र की विजय से महान् होती है।

पहले अंक की कथा का आरम्भ होते ही अग्निहोत्र करने के पश्चात् सोमश्रवा अपनी बातों में सुमित्र से उसके वीणा-वादन तथा कुमारी चन्द्रभागा से उसके अनुराग का रहस्य उद्‌घाटित करते हुए आनन्द लेने लगता है—''अभी कल तुम्हें वहाँ नदी के निकट जो पेड़ों का झुरमुट है, अशोक के नीचे वीणा बजाते देखा था। तुम्हारे लिए तो अब प्रसिद्ध हो चुका है कि तुम उस जन्म के गन्धर्व हो। लेकिन कल तुम्हारे साथ...अशोक के लाल फूलों की माला तुमने उसके शिर पर

जो डाल दी थी, जिसमें उनके केश सिमट गये थे।" सोमश्रवा का संकेत चन्द्रभागा की ओर था। उसने इसको स्वीकार किया। पर वह सोमश्रवा से पूछता है कि उसका नाम क्या है ?

सोमश्रवा हँसते हुए कहता है—"तो मैं यह मान लूँ कि तुम उसका नाम भी नहीं जानते ?"

सुमित्र इसका जो उत्तर देता है, वह प्रबुद्ध हृदय और रागरंजित युवक का है—"जब कोई हरिण का बच्चा तुम्हारे शरीर को आकर सूँघ लेता है, तब क्या तुम उसका नाम पूछते हो ? जब कोई तीर सीधे तुम्हारे हृदय की ओर आ पड़ता है, तब क्या तुम्हारे पास इसका अवसर रहता है कि तुम उसके पंख पर उस धन्वी का नाम पढ़ो, जिसने उसे तुम्हारी ओर लक्ष्य कर चलाया है।"

इन दोनों आर्य-कुमारों का यह आलाप हो ही रहा था कि आश्रम के प्रतिष्ठाता महर्षि नारायण आ गये, जो तीन दिन से प्रवास पर थे। उन्होंने छात्रों से कुशल-क्षेम पूछा। नर के सम्बन्ध में पूछा। सुमित्र ने उत्तर दिया कि यह जानकर कि आप उत्तरापथ गये हैं, वे भी कल उधर ही चले गये।

नारायण ने उत्तरापथ (हिमालय), यात्रा की कठिनाइयों का वर्णन किया। इसके बाद दोनों छात्रों को नारायण ने आश्रम की समन्वय दृष्टि की ओर आकृष्ट किया, अग्निहोत्र की प्रशंसा की तथा स्पष्ट किया—"हमको यह हवन-विधि इसलिए रखनी है कि जो हमारे विजेता हैं, जिन्होंने शरीर और शस्त्रबल से हमारी भूमि, हमारे देश पर अधिकार किया है...उनकी यह इतनी-सी विधि स्वीकार कर हम उन्हें अपनी विधि में खींचेंगे। आज जो शस्त्र-विजयी हैं, कल संस्कृति से पराजित होंगे।" आगे संवाद के क्रम में नारायण ने आर्य-संस्कृति में आये परिवर्तन का व्याख्यान आर्य-छात्रों से किया, वह इस प्रकार से—"तुम्हारे पूर्वजों ने उपनिषदों की मूलभूत ब्रह्म-भावना को स्वीकार कर लिया और अब तो पुनर्जन्म की धारणा में तुम्हारे शव भी भस्म हो रहे हैं। गाड़ने की प्रथा तो अब बीत गई।" अर्थात् शवों का जलाना, पुनर्जन्म का विश्वास तथा ब्रह्म की अनुभूति सात्वत एवं वैष्णव धर्म की मान्यताएँ हैं, जो अब हमारे जीवन की आचार-संहिता में हैं।

इसी बीच उत्तर की ओर देखते हुए नारायण चौंक पड़े, उन्होंने बड़ी शीघ्रता से धनुष की डोरी खींची और बाण सन्धान किया, उसी के साथ ही एक चीता दहाड़ मार कर गिर पड़ा। साथ ही चन्द्रभागा भी मूर्च्छित होकर एक शिलाखण्ड से नीचे गिर गयी। नारायण ने सुमित्र को चन्द्रभागा को उठाकर कुटी में ले जाने का तथा सोमश्रवा को चीता को खींचकर चंक्रमण के नीचे ले आने का आदेश दिया।

साथ ही सोमश्रवा से यह भी कहा कि उपाध्याय देवदत्त से पूछकर इस चीता का पूरा चर्म निकालना होगा तथा उसे लवण और लेप से नरम करना होगा। तभी नर भी आ गये। बात यों हुई कि चन्द्रभागा शिला पर बैठकर तल्लीन होकर सुमित्र का चित्र बना रही थी। उसे देखकर चीता नदी की ओर से दबे पाँव उसका आखेट करने के लिए बढ़ा। नारायण की दृष्टि पड़ गयी। अन्यथा चन्द्रभागा के प्राण चले जाते। महर्षि और आचार्य का धनुर्विद्या में निपुण होना बहुत ज़रूरी है, तभी आश्रम की रक्षा होगी।

नारायण ने नर को घटना का विवरण दिया और चले गये। सुमित्र तथा चन्द्रभागा का प्रेमानुरंजित संवाद तथा परस्पर प्रगाढ़ परिचय हुआ। चन्द्रभागा गांधार से आयी थी। उसके पिता नहीं हैं, केवल माता है। एक दिन पाँच कुमार तथा दो कुमारी उसकी माता के अतिथि बने थे। वे इस ओर शास्त्र एवं कला की शिक्षा लेने आ रहे थे, जहाँ हिमालय की निचली उपत्यका में गोमती तथा मनोरमा के कछार में ऋषियों के ऐसे आश्रम हैं, जहाँ संगीत से जल बरसाया जाता है, अग्नि जलायी जाती है, जहाँ योग और श्वास साधना से मनुष्य आकाश में उड़ता है। उन्हीं के साथ चन्द्रभागा भी यहाँ यह सीखने के लिए आयी। वह सुमित्र से कहती है, ''चन्द्रभागा नदी (चिनाब) के उस पार (गान्धार, मद्र, सुवास्तु में) लोग अभी धम्म धड़ाम धम्म धड़ाम सूखा चमड़ा ही बजाते हैं। तुम्हारी यह वीणा देख लें तो बिना किसी भी योग के उड़ने लगें। वैसे अब 'मैं ही नहीं...उधर के सारे आर्य पुरानी पद्धति छोड़ चुके हैं।''

वह सुमित्र से उसके प्रति अपने अनुराग की बड़ी सुकुमार अभिव्यक्ति नारी-सुलभ सीधे और कोमल शब्दों में करती है—''मेरे चारों ओर चेतना जब भाँवर देती...आकाश में चन्द्रमा हँसता होता...पारिजात की गन्ध में वायु सुमसुम होता...मैं तुम्हें इसी तरह साकार अशोक कुंज में वीणा बजाते देखती। मन में आया...हंस मिथुन जिधर उड़ेगा...तुम उसी ओर मिलोगे।...हंस मिथुन इसी ओर उड़ कर आया...एक साथ पंख में पंख जोड़कर...चलोगे...हम भी एक ही साथ चन्द्रभागा पार करें।...माता से कहूँगी यह मेरे...।''

इसी बीच नर और नारायण आश्रम में आ जाते हैं। नर ने सूचना दी कि नारद के साथ प्रह्लाद आ रहे हैं और वे यहाँ रात्रि में विश्राम करेंगे। फिर बदरिका आश्रम की यात्रा करेंगे। उनके साथ उनकी रानी और कुछ अनुचर होंगे। दोनों के बीच आपस में प्रह्लाद-द्वारा आश्रमों में कौशेय वस्त्रों के दान तथा ज्ञान और संस्कृति के प्रचार के प्रति अभिरुचि की चर्चा होने लगी। ये आश्रम गंगा से ब्रह्मपुत्र

तक और स्वर्ण-रेखा से गोदावरी के तीर तक स्थापित हैं। इससे यह भी संकेत मिलता है कि प्रह्लाद के राज्य का विस्तार यहाँ तक हो चला था। आर्य-जनपदों में कौशेय वस्त्र देखकर बड़ा विस्मय हुआ, वे अब तक बल्कल और चर्म धारण करते थे। उनका आर्य होने का दम्भ छूटने लगा, उन्होंने कौशेय वस्त्र देनेवालों को भी आर्य कहा। 'दशपुर' नगर तथा और भी सर्वत्र आर्य ऋषि संकृत ने नर आदि सभी को आर्य कहकर सम्बोधित किया। नारायण ने कहा कि "प्रह्लाद की निष्ठा से जो बल हमें मिल रहा है...वह दिन दूर नहीं, जब हमारे विजेता अपनी सारी पहचान भूलकर हममें मिल जाएँगे।"

लेकिन नर प्रह्लाद के विरुद्ध हैं, क्योंकि उसने षड्यन्त्र से पिता का वध कराया था। नारायण ने प्रह्लाद का समर्थन किया कि "धर्म की अवरुद्ध गति को मुक्त करने के लिए हिरण्यकशिपु का वध हुआ।...तब धर्म ने उसका वध किया और धर्म और भगवान् को एक ही मान लेने में तुम्हें आपत्ति क्या होगी ?"

आगे वे प्रह्लाद की विचारधारा मोक्ष और ब्रह्मवाद का विरोध भी करते हैं—"ब्रह्मवादी संघर्षशील नहीं रह सकता।...यदि हम संघर्षशील होते...यदि हम भी शस्त्र की उपयोगिता समझते, तो क्या हम आज पराजित रहते ? लेकिन नहीं, अब हमें शस्त्र लेना होगा, अपने विधान की रक्षा के लिए और उस रूप में हमारी, हिंसा, हिंसा न रहेगी...इसलिए कि हम उसमें आसक्त न रहेंगे।"

(यहाँ पर नारायण ने वही बात कही है, जो गीता में भगवान् कृष्ण ने अनासक्त कर्मयोग की व्याख्या में कहा है। वस्तुतः पुराण और इतिहास की परम्परा में नारायण तथा कृष्ण एक ही हैं। नारायण के बहुत बाद कृष्ण अवतरित होते हैं। नारायण से ही परम्परा-प्राप्त कर्मयोग की व्याख्या कृष्ण ने गीता में अर्जुन से की है।)

नर प्रह्लाद के स्वागत की तैयारी में चले गये। नारायण कुछ देर चन्द्रभागा से उसका कुशल-क्षेम पूछने लगे। उनको ज्ञात हुआ कि सुमित्र से उसका अनुराग है। वे चन्द्रभागा को कुछ शिक्षा दे रहे थे कि दक्षिण की ओर से नारद ने प्रवेश किया, उनका शिर मुण्डित है, लम्बी शिखा है, लालिमा लिये पीतवर्ण वस्त्र धारण किये हैं तथा हाथ में वीणा लिये हैं। नारायण और नारद दोनों ने एक-दूसरे को हाथ जोड़कर, नतमस्तक होकर अभिवादन किया।

नारद आश्रम देखकर बहुत प्रसन्न हैं। उनसे ही पता चला कि प्रह्लाद अभी नदी के तट पर विश्राम कर रहे हैं। चन्द्रभागा ने बाघाम्बर ले आकर बिछा दिया। दोनों उस पर बैठ गये। नारायण ने पूछा कि बदरीवन भी मनोरंजन का स्थान

बनेगा। नारद ने हँसते हुए उत्तर दिया—''शक्ति और वैभव ने तो मुक्ति को ही मनोरंजन समझा है तो फिर बदरिकाश्रम यदि मनोरंजन का स्थान बने तो इसकी चिन्ता ही क्या ?'' नारद ने आगे कहा—''जनपदों में बड़ी भक्ति और विश्वास के साथ लोगों ने प्रह्लाद का अभिवादन किया है। उनको युवा नहीं, मेरे साथ देखकर कुछ और ही (विरक्त) समझा।'' नारद हँस रहे हैं तथा नारायण किसी की प्रतीक्षा में दूर देखते हैं।

दूसरा अंक

प्रह्लाद रानी मेनका तथा अनुचरों के साथ आश्रम में आ गये। नारद उनके साथ हैं। सभी अतिथि-शाला में विश्राम कर रहे हैं। तीन दिन हो गये। इसी बीच एक घटना घट गयी। सुमित्र कहीं चला गया और यह कह कर गया कि आश्रम के जड़ नियमों में वह निभ न सकेगा। आर्यकुमारों के लिए यह कौतूहल तथा जिज्ञासा का विषय बन गया। सोमश्रवा तथा अरुण की इस विषय पर आनन्द तथा तर्क भरी बातें होती हैं। तब तक आश्रम-व्यवस्थापक देवदत्त तथा नर आ जाते हैं। नर को सुमित्र के चले जाने की बड़ी चिन्ता है। वे इसकी सूचना उसके माता-पिता तथा जनपद को शीघ्र दे देना चाहते हैं। देवदत्त स्तब्ध हैं कि इधर मैं दो मास प्रवास में रहा और आश्रम की व्यवस्था में कुछ विषमता आ गयी, जिससे यह घटना घट गयी।

यहाँ इस सन्दर्भ में नर तथा देवदत्त की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें होती हैं, जो आज के सन्दर्भ में भी सार्थक हैं। नर कहते हैं कि हमने अपने बच्चों को सब ओर से बाँधकर विवश कर दिया है जन्म लेते ही हम उन्हें नीति, धर्म और आचरण का उपदेश जो देने लगते हैं। यह न करना, वह न करना, बार-बार की नकारात्मक विधि से उनके लिए जीवन नकारात्मक हो उठता है। कर्म की स्वाभाविक प्रेरणा उनकी मारी जाती है।

नर की ये बातें सुमित्र तथा चन्द्रभागा के अनुराग को केन्द्र में रखकर हो रही हैं। इसी को केन्द्र में रखकर कथा आगे बढ़ती है तथा कठोर इन्द्रिय-संयम को प्रकृति के विरुद्ध स्वीकार किया जाता है। कठोर इन्द्रिय-संयम वैष्णव मान्यता की पहचान है। नर इसे ठीक नहीं समझते। प्रकृति के विरुद्ध रहना वैष्णव व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होगा। नर स्वयं इससे पीड़ित रहे हैं, जैसा कि इसी अंक में आगे की कथा में प्रकट होता है, मेनका का अनुराग नर के प्रति था, किन्तु नर ने वैष्णव व्यवस्था और अनुशासन की कठोरता का पालन कर उसे ठुकरा दिया, इसका पछतावा उनको है और वे अब ऐसा सुमित्र के साथ नहीं होने देना चाहते,

संस्कृति तथा सभ्यता के विचारों की परिधि में सुमित्र और चन्द्रभागा का अनुराग प्रेरणा का केन्द्र बना हुआ है। नर देवदत्त की जिज्ञासा का जो उत्तर देते हैं, उससे उनके पछतावा की पूरी झलक मिलती है—''जिस तरह का निग्रह हमारे पूर्व पुरुषों ने, हमने किया—उस निग्रह से तो जीवन की जड़ें सूख जाती हैं। हमारी सूख गईं। यदि हमने नैतिक महत्त्व को इतना आगे न बढ़ाया होता, शस्त्र को नृशंसता कहकर दूर न फेंक दिया होता तो आज हम पराजित न होते और न हमें इन संकट की समस्याओं से पार होना पड़ता। सुमित्र और चन्द्रभागा की तरह के कुमार और कुमारी हमारे घर भी होते जिनकी प्रकृति विकृत न होती।''

आगे प्रकट होता है कि नर के प्रति मेनका का अनुराग इस आश्रम के पल्लवित होने में मुख्य कारण है। जब नर मेनका की प्रशंसा में कहते हैं, ''राजर्षि प्रह्लाद को आपने इन गुरुकुलों की ओर प्रेरित कर गौ, वस्त्र और भूमि दिलायी है। ...इन दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के समन्वय में आप मूल शक्ति बन रही हैं।'' तब मेनका कहती है—''मैंने इन आश्रमों के लिए कुछ नहीं किया है। मैंने जो कुछ किया है केवल आपके लिए। इनसे यदि आपका सम्बन्ध न होता तो मुझे निश्चय है, यह कुछ न हुआ होता। गौ, वस्त्र, भूमि जब कभी दिये जाने का प्रस्ताव मैंने किया, मेरे सामने भूर्जपत्र तथा मृगचर्मधारी किसी तरुण ऋषि की मूर्ति सदैव जैसे साकार हो उठती थी।''

मेनका ने जैसे ही आश्रम में प्रवेश किया, उसकी दृष्टि विषाद में अकेले पड़ी चन्द्रभागा की ओर गयी थी—वहाँ उस अशोक-कुञ्ज में वह कुमारी कौन है ? उसी को लेकर नर से वह पुराने अनुराग का स्मरण करा रही थी, जिसके फलस्वरूप ही वह इस आश्रम से जुड़ी हुई है। चन्द्रभागा के दुःख को देखकर वह दुःखी हुई, उसके शिर पर हाथ रखकर कहा—''देखें, वह कैसे तुम्हें छोड़कर जा पाता है। जो मेरे साथ हो गया, तुम्हारे साथ नहीं होने पायेगा।'' चन्द्रभागा ने कहा—''वह मनुष्य नहीं है'' (अर्थात् देव है)। मेनका ने कहा—''किन्तु मैं उसे मनुष्य बनाऊँगी।'' यहीं पर दूसरा अंक समाप्त हो जाता है।

नाटककार ने सुमित्र और चन्द्रभागा की अनुराग-कथा के क्रम में वैष्णव संस्कृति के कठोर संयम और आर्य-संस्कृति की स्वच्छन्दता के परिणामों का लेखा-जोखा किया है। चन्द्रभागा का स्वच्छन्द अनुराग आर्य-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, इस समय सुमित्र के वियोग की कातरता नाटकीय कार्यावस्था की प्राप्त्याशा की स्थिति है, जिसमें सुमित्र का न मिलना विघ्न है, मिलने पर मेनका द्वारा उसको मनुष्य (अर्थात् अनुरागी) बना देने का आश्वासन कथा की फल-परिणति

का उपाय है। यह कथाक्रम तीसरे अंक में सुमित्र और चन्द्रभागा के पाणिग्रहण में अपनी पूर्णता प्राप्त करता है।

सुमित्र और चन्द्रभागा का अनुराग युवावस्था की प्रकृति का परिणाम है, जिसकी उपेक्षा जीवन की विकृति है। ऐसी ही विकृतियाँ छात्रों के युवा जीवन में योग और वेदान्त की साधना है, जिसके पक्षधर आश्रम के व्यवस्थापक देवदत्त हैं, किन्तु नर उसका विरोध करते हैं। मेनका के आश्रम में प्रवेश करने से पूर्व इस विषय पर दोनों में पर्याप्त चर्चा हुई है। उस चर्चा की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रह्लाद ने राज्यलोभ में अपने को वैष्णव मान्यता में दीक्षित किया तथा पिता हिरण्यकशिपु की हत्या कपट-पूर्वक सिंह का चर्म धारण किये किसी योद्धा से करा दी है, जिसके फलस्वरूप प्रह्लाद अब भी नैतिकता से अवसादग्रस्त रहते हैं। आर्यों के बल और पराक्रम से अपने अस्तित्व की रक्षा नारायण और नर के सामने मुख्य प्रश्न रहा है। इस समस्या के समाधान में नर कहते हैं, "जम्बू द्वीप में इन यायावरों को जम्बू द्वीप के धर्म, संस्कृति, योग और ज्ञान के भीतर दीक्षित कर इनके भीतर से इनकी पहचान, इनकी विजातीयता को मिटा देना होगा। इन्हें शैव, वैष्णव और शाक्त बनाना होगा। तुम्हारी स्त्रियों के दल के दल का इन्होंने हरण किया और करते ही रहेंगे। उनसे जो सन्तान पैदा होगी, वही इस भूखण्ड में सहस्रों वर्ष बाद इस आर्य-अनार्य द्वन्द्व को मिटाकर यहाँ शासन करेगी। इसीलिए महर्षि (नारायण) ने इस वैष्णव-चक्र का प्रवर्तन किया। द्रोह और घृणा पर अधिकार केवल वैष्णव कर सकता है। प्रकृति के अनुरूप रहना...कभी भी प्रकृति से अलग न होना जड़ प्रकृति को जड़ होकर पकड़े रहना शैवागम है।"

सम्भव है कि नाटककार का यह कथन आज से चार-पाँच हज़ार वर्ष पूर्व ही इतिहास की परिणति पा चुका हो।

देवदत्त ने नर के विचारों को स्वीकार करते हुए अपनी यह टिप्पणी दी— "जब-जब विदेशियों का सम्पर्क इस देश के साथ होगा, कुछ काल के लिए वैष्णव विधान चल पड़ेगा, किन्तु शैवध्वज हिरण्यकशिपु सनातन है और सनातन रहेगा।"

उनकी यह वार्ता चल रही थी कि नर के शिष्य विजयकीर्ति के साथ मेनका ने आश्रम में प्रवेश किया और उसकी पहली दृष्टि अशोक-कुंज में अकेली पड़ी चन्द्रभागा पर पड़ी। आगे की कथा पीछे कही जा चुकी है।

तीसरा अंक

वृक्षों के नीचे चबूतरे और उन पर मृगचर्म पड़े हैं। कुटी के भीतर उत्तेजना-पूर्ण

ध्वनि हो रही है जिसे सुनकर नर, देवदत्त और विजयकीर्ति कुटी की ओर जाते हैं। चन्द्रभागा एक चबूतरे पर निश्चेष्ट पड़ी है।

इसी समय सोमश्रवा चन्द्रभागा के निकट पहुँचकर उसे सुनाकर कहता है– "वह नहीं मिला। महर्षि नारद और प्रह्लाद लौट आये। सुमित्र अब यहाँ न लौटेगा। कहीं कोई चीता या बाघ उठा ले जायेगा। वीणा भी नहीं ले गया कि संकट के समय उसे ही बजाने लगता। यहीं कि उसकी आशा तुम्हें छोड़ देनी चाहिए।"

चन्द्रभागा ने उसे उत्तर दिया–"जाओ भद्र ! उपदेश के लिए तुम्हें निमन्त्रित करूँगी तब आना।"

नाटककार ने मुख्य कथा की नियताप्ति को लाने के लिए तथा अभिनय में उसे मुख्य रूप से आलोकित रखने के लिए इस संवाद को नियोजित किया है। तब तक मेनका प्रवेश करती है और सोमश्रवा मुस्कुराता हुआ चला जाता है। कुटी से आती उत्तेजित ध्वनि को सुनकर दोनों चिन्तित हो जाती हैं। चन्द्रभागा ने कहा– "तपस्वी के लिए शस्त्र-ग्रहण अनाचार है।" यह वाणी तो किसी नये व्यक्ति की है।

मेनका ने कहा–"हाँ, जी...यही मेरे पतिदेव राजर्षि प्रह्लाद हैं।"

प्रह्लाद कुटी के बाहर आ जाते हैं। रत्नजटित स्वर्ण मुकुट शिर पर है, जो क्रोध के कारण तिरछा हो रहा है। कन्धे पर धनुष, पीठ पर तरकस तथा हाथ में अस्त्र हैं। उनके पीछे महर्षि नारायण, नर और विजयकीर्ति भी आ जाते हैं। मेनका तथा चन्द्रभागा चली जाती हैं।

घटना यह हुई कि प्रह्लाद ने आश्रम में प्रवेश किया और महर्षि नारायण के निकट दर्शन के लिए पहुँचे तो देखा कि उनके पास नुकीले तेज बाण और धनुष तथा दूसरे शस्त्र रखे हुए हैं। उनको बड़ा विस्मय हुआ कि तपोभूमि में जहाँ योग और प्राणायाम की शिक्षा हो, वहाँ शस्त्र क्यों रखे हुए हैं ? उन्होंने कहा–"अच्छा तो फिर यह ऋषियों का आश्रम नहीं, वीरों का अखाड़ा है।"

नारायण ने उत्तर दिया–"ऋषि वीर होते ही हैं, राजर्षि ! कायर कभी ऋषि नहीं होते। संसार के प्रलोभनों से निकल जाने की पद्धति केवल वीरों की है। कायर उनमें लिपटे रहने के लिए पैदा होते है।"

इस विषय पर पहले दोनों में तर्क-संगत विवाद हुआ। प्रह्लाद निरुत्तर होते गये। उन्होंने कहा–"तब यह आश्रम और गुरुकुल की विडम्बना क्यों ? क्या इसलिए राजा-द्वारा आश्रम को समय-समय पर सहायता दी जाती थी।"

आगे प्रह्लाद ने कहा–"तो क्या मैं यह अनुमान करूँ कि अवसर आने पर

आपके स्नातक, उपाध्याय, आचार्य और आप स्वयं भी युद्ध कर सकेंगे ?''

नारायण ने उत्तर दिया—''निश्चित...हम अपनी रक्षा स्वयं करते हैं...अपनी रक्षा के लिए हम राजाश्रय में जाना ठीक नहीं समझते। आत्मरक्षा प्रकृति का प्रथम धर्म है। इसके अभाव में देही और देहधारियों का समाज कायर हुआ।''

प्रह्लाद की दृष्टि में महर्षि नारायण का अस्त्र-ग्रहण उचित नहीं था। नर के साथ उनका युद्ध होना निश्चित हो गया। युद्ध के आरम्भ के पहले प्रह्लाद ने कहा—''कभी युद्ध में विधान बनता था...फिर तपोवनों में विधान बनने लगा और अब फिर युद्ध में विधान बनेगा।''

नर और प्रह्लाद नेपथ्य की ओर निकल जाते हैं। नेपथ्य में युद्ध का दृश्य घटित होता है। धनुष की टंकार और बाण चलने की ध्वनि सुनायी पड़ती है। छज्जों की ओर से कुमार-कुमारी कुटी की ओर बढ़ते हैं। तभी देवदत्त आ जाते हैं। उनको इस युद्ध पर आश्चर्य होता है।

युद्ध के आरम्भ के साथ पशु-पक्षी भागने लगे। आकाश पक्षियों से भर उठा। वन के वृक्षों में आग लग गयी। आचार्य नर ने राजर्षि प्रह्लाद के धनुष की डोरी काट दी। प्रह्लाद पराजित हो गये। नर के शिष्य विजयकीर्ति ने गद्गद होकर आचार्य नारायण के चरणों पर अपना शिर रख दिया और कहा—''यह आचार्य की विजय...हमारे इस विधान की विजय'' नारायण ने विजयकीर्ति को उठाते हुए कहा—''उठो...उठो...यह विजय तो प्रकृति के उस विधान की विजय है, जिसमें आत्मरक्षा का अधिकार सब को है।''

तब तक राजर्षि प्रह्लाद ने युद्ध-हेतु धनुष पर दूसरी प्रत्यञ्चा चढ़ा ली, लेकिन इसी बीच वीणा बजाते नारद आ गये। नारद के आने से युद्ध रुक गया।

वियजकीर्ति देवदत्त से कहते हैं—''चलो भद्र ! चल कर हम देखें...त्याग और संघर्ष, प्रकाश और अन्धकार, प्रेम और द्रोह की यह सन्धिवेला, यह सन्धि-स्थली हमारी सनातन सिद्धि हो।''

मेनका तथा चन्द्रभागा दोनों आ जाती हैं। मेनका युद्ध का रोमांचक वर्णन करने लगी। उसके हृदय में नर के पौरुष के प्रति श्रद्धा के भाव हैं। नारायण ने पूछा—''तो क्या आपने नर को भी पहले देखा था ?'' दो बार पूछने पर भी मेनका ने कुछ स्पष्ट नहीं कहा—''जी नहीं, नारी अपने रहस्य में ही जीती है। इस चन्द्रभागा की तरह मेरा भी रहस्य है। पता नहीं आपको...आप शंका से देख रहे हैं। बदरिकाश्रम से लौटकर मैं आपके पास आऊँगी, तब तक मैं इस योग्य बन सकूँगी कि आपसे सत्य कह सकूँ। किन्तु आज एक काज हो जाना चाहिए।

(चन्द्रभागा की ओर संकेत कर) इसका सुमित्र के साथ विवाह...''

नारायण ने कहा—''सुमित्र ! वह तो इस आश्रम से...।'' मेनका ने बताया, ऐसा नहीं है, जब युद्ध हो रहा था ''तभी संकृत के साथ सुमित्र लौट आया है, मैंने देखा है।''

नाटकीय कथा का यह स्थल कार्य की नियताप्ति दशा है, जहाँ चन्द्रभागा के साथ सुमित्र के विवाह का निश्चय हो जाता है।

यह स्थल एक अन्य दृष्टि से मेनका के लिए अत्यन्त भावानुभाव-गर्भित है, जहाँ उसके पूर्व अनुरागी नर तथा पति प्रह्लाद में युद्ध हो रहा है, जिस युद्ध में वह दोनों की प्राण-रक्षा के लिए आकुल होगी। नाटककार ने उसके ऐसे अनुभावों की ओर इंगित किया है। यहाँ पर मेनका नाटक की कथा को भावाकुल और जीवन्त बना देती है। युद्ध के बाद नर और प्रह्लाद परस्पर एक-दूसरे के गले में बाँहें डालकर बातें करने लगे, इससे मेनका को प्रसन्नता हुई।

चन्द्रभागा के विवाह की पूर्ण स्वीकृति मिल गयी, उसके साथ ही यह निश्चय हुआ कि अब से कुमारों और कुमारियों का अध्ययन एक साथ नहीं होगा। नारायण ने कहा—''यक्षों की तरह स्त्री-पुरुष का बराबर साथ रहना तो बस दिन-रात भोजन करते रहना और जल पीते रहना है, किन्तु प्रकृति के लिए यह सब असह्य है।''

मेनका ने सुमित्र तथा चन्द्रभागा को बदरिकाश्रम ले जाने की भी इच्छा प्रकट की। मेनका की बातों से यह भी पता चला कि राजर्षि प्रह्लाद इन दिनों मन से ठीक नहीं हैं—''वे सारी रात जागते हैं...जब कभी उन्हें नींद आती है, उनके पिता स्वप्न में उन्हें दिखायी पड़ते हैं...कभी नींद में ही रोने लगते हैं, कभी हँसने लगते हैं।'' देवर्षि नारद उनको स्वस्थ करने के लिए बदरिकाश्रम ले जा रहे हैं।

नारायण ने इस वार्ता के प्रसंग में मेनका को पुत्रवती होने का भी आशीर्वाद दिया—''आप अपने पुत्र के साथ कभी आश्रम को धन्य करेंगी।''

नारायण ने प्रह्लाद की भी प्रशंसा की—''राजर्षि ने जाति-रक्षा और जाति-रक्षा में ही धर्म-रक्षा देखकर अपने पिता का षड्यन्त्र से वध कराया। लोक-कल्याण में अपने पिता का भी मोह उन्होंने छोड़ दिया, इसलिए वे आज राजर्षि हैं।''

फिर उन्होंने नारद के प्रति आदर प्रकट किया और कहा—''आपकी वीणा अमृत बरसा कर द्रोह, दम्भ और पाखण्ड धो चुकी है। धर्म जड़ और निर्जीव नहीं है, वह चेतन और सजीव है, और चेतन और सजीव सदैव परिवर्तन और संस्कार पर टिका है।'' नारायण की यह बात धर्म की भावना को रुढ़ि से निकालकर

वर्तमान में प्राणवान् बनाती है। संकृत ने मांसाहार न करने का निश्चय किया।

युद्ध में नर को गहरे घाव लग गये थे। अतः उपचार की व्यवस्था की गयी। मेनका राजर्षि की परवाह न कर नर के शिरहाने बैठकर उनके घावों का उपचार कर रही है तथा अपने हाथ से उनको पेय पिला रही है।

सब कुछ स्वस्थ और सुस्थिर हो गया। संकृत ने कहा—"आर्य कोई जाति नहीं हो सकती। कर्म और आचरण में जो महान् हैं, सभी आर्य हैं।"

मेनका ने इच्छा प्रकट की—वह राजर्षि के साथ चन्द्रभागा का कन्यादान सुमित्र के लिए करेगी। लेकिन देवदत्त ने कहा कि पन्द्रह दिन तक मुहूर्त नहीं है। इसलिए इस उपलक्ष्य में आज एक उत्सव मात्र करने का निश्चय हुआ। उत्सव के अन्त में एक गीत गाया गया, जिसको संकृत ने रचा था। मेनका और नर ने उसी गीत को गाया, नारद ने वीणा बजायी, उसकी चार पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

संस्कृत नारायण नारद
राजर्षि मेनका स्वस्ति स्वस्ति।
हे स्वस्ति चन्द्रभागा सुमित्र
हे स्वस्ति प्रणय के व्रत-विधान।

संकृत ने कहा यही सनातन है और नारायण ने कहा—"यही नारद की वीणा है।"

नारद की वीणा के तारों की मधुर लहरी ने युद्ध रोक दिया। सौहार्द्र, एकात्मभाव और आनन्द का सृजन हुआ। मानवता को इसी की अपेक्षा है। नाटक का प्रतिपाद्य यही है। नाटक की कथा पाँच हज़ार वर्षों से भी पुरानी है, तब भी मनुष्य का इष्ट यही था। नाटककार ने इसे देखा, और उसे अभिव्यक्ति दी है, यह उसके कर्तृत्व की दिव्य दृष्टि है।

विश्लेषण

मिश्र जी को इस नाटक की रचना की प्रेरणा *देवीभागवत पुराण*, स्कन्द 4 अध्याय 9 के उस प्रसंग से प्राप्त हुई है, जिसमें दैत्यराज प्रह्लाद ने तपस्वी नर-नारायण से युद्ध किया है। युद्ध का कारण था, तपस्वी नर और नारायण का धनुष और बाण से सुसज्जित होकर ऋषि-आश्रम में रहना। प्रह्लाद इसे धर्म के विरुद्ध तथा धर्म का विनाश करनेवाला आचरण मानते हैं। किसका आचरण सत्य है, इसका निर्णय करने के लिए युद्ध हुआ। युद्ध वर्षों तक होता रहा, अन्त में प्रह्लाद की पराजय हो गयी। प्रह्लाद वैष्णव थे। वैष्णव मान्यता में शासन का विधान यही है कि राजा ही शस्त्रास्त्र धारण करता है, दुष्टों को दण्ड देता है तथा प्रजा की रक्षा करता है।

ब्राह्मण और ऋषि केवल तपस्या करते हैं। अपनी पराजय हो जाने से प्रह्लाद को बड़ा आश्चर्य हुआ। तब विष्णु प्रकट हुए और कहा—"तपस्वी नर-नारायण मेरे अंश हैं, इसलिए विस्मय न करो, जो इनसे तुम पराजित हो गये हो। अब तुम पाताललोक जाओ और मेरे प्रति स्थिर भक्ति की साधना करो।"

भारत-भूमि में वैष्णव धर्म (प्रह्लाद) की इस मान्यता की जड़ें सामाजिक स्थिति एवं धर्माचरण में बहुत पुरानी हैं। मध्य के युगों में भी रहीं तथा आज भी हैं। आठवीं शती में भवभूति ने *महावीरचरित* नाटक राम के पराक्रम तथा उनकी लंका-विजय को लेकर लिखा है। इस नाटक के सीता-स्वयंवर (धनुर्भंग) प्रसंग में जब परशुराम आ जाते हैं तथा धनुष तोड़नेवाले राम के विरोध में उद्यत होते हैं, तब नाटककार विश्वामित्र, शतानन्द तथा वशिष्ठ से परशुराम की कड़ी भर्त्सना करवाता है। वहाँ ऋषि और ब्राह्मण परशुराम के शस्त्र-धारण को अधर्म तथा पाप कर्म कहा गया है। *देवी भागवत* में प्रह्लाद द्वारा धनुर्धारी नर-नारायण की निंदा और *महावीरचरित* नाटक में विश्वामित्र आदि के द्वारा परशुराम की भर्त्सना दोनों एक समान हैं। दोनों के मूल में एक ही मान्यता अनुस्यूत है।

महाभारत में अर्जुन और कृष्ण को नर-नारायण का अवतार कहा गया है। कृष्ण भी वैष्णवों के परम आराध्य हैं तथा ये कृष्ण सात्वत धर्म के प्रतिष्ठाता हैं। पर उनकी मान्यता में ऋषियों-ब्राह्मणों के द्वारा शस्त्रास्त्रों का प्रयोग निन्दित नहीं है। ऐसा समाज ही नर-नारायण के धर्माचरण का समाज है।

वैदिक धर्माचरण में आर्य कहे जानेवाले ऋषि धनुर्वेद में निष्णात होते थे। धनुर्वेद का आचार्य होना उनके लिए गौरव की बात है। वे युद्ध भी करते हैं, शत्रुओं-असुरों को पराजित करते हैं। अंगिरा कुल के ऋषि आंगिरस कहे जाते हैं, सम्भवतः ये वैदिक ऋषियों में प्रथम हैं। ये चमकते अस्त्र धारण करते हैं। इन्होंने अग्नि की खोज की है। इनकी कवि और मरुत संज्ञा भी है। निम्न ऋचा में अग्नि को अंगिरा ऋषि और आयुधधारी मरुत देवों के रूप में चित्रित किया गया है—

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मंरुतो भ्राजदृष्टयः।। (ऋ. 1/31/1)

(हे अग्नि ! तुम ही सभी ऋषियों के जनक प्रथम अंगिरा नामक ऋषि हो। तुम स्वयं देव होकर देवों के कल्याणकारी मित्र हुए। कवि और कर्म करने में चतुर मरुत देवगण चमचमाते आयुध लेकर तुम्हारी रक्षा में तत्पर् हैं।)

उक्त वैष्णव, सात्वत तथा वैदिक ऋषि—इन तीन सामाजिक धर्माचरणों का संगम पुराकाल में इस भारत-भूमि में घटित हुआ। इस घटना के फलस्वरूप जो

समन्वय हुआ, संगम में एकाकार होकर जो नूतन सांस्कृतिक धारा प्रवाहित हुई, उसका अनोखा दृश्य मिश्र जी ने *नारद की वीणा* नाटक में प्रस्तुत किया है। कहना न होगा कि जैसे जल का कल-कल नदी की पहचान होती है, वैसे ही संगीत और कला, प्रतीक रूप में नारद की वीणा उस युग में संगमोद्भूत समन्वय की मुख्य पहचान थी। इस मुख्य पहचान ने विजेताओं के मन को पराजित कर उनको अपनी संस्कृति में समाहित कर लिया। वैष्णवों की यह महान् सांस्कृतिक विजय थी। इसका परिणाम आगे बहुत अच्छा नहीं हुआ है। नाटककार ने नाटकीय कथा में ही इसकी ज़बर्दस्त चेतावनी दे दी है—"बार-बार कहा मैंने, इसी संगीत, चित्र और काव्य से गन्धर्वों की जाति ही इस पृथ्वी से उठ गयी।" (पहला अंक)

पुराकाल का यह इतिहास शोध और अनुसन्धान का विषय है, पर इतना तो सत्य है कि गंगा की भूमि में उक्त तीनों संस्कृतियों का संघट्ट, संगम और समन्वय हुआ है। वैदिक संस्कृति की पहचान अग्निहोत्र, सात्वतों की पहचान तप और वैष्णवों की पहचान वीणा संगीत है। इन तीनों के संगम में शताब्दियाँ बीती होंगी। नाटककार ने उपर्युक्त घटना (सुमित्र और चन्द्रभागा के अनुराग) की कल्पना कर तथा पुराकाल की प्रसिद्ध घटना (हिरण्यकशिपु) के सत्य को अनावृत कर नाटक के संक्षिप्त कलेवर में समस्त पुरातात्त्विक इतिहास की मंजुल झाँकी प्रदर्शित कर दी है। इसका श्रेय मिश्र जी की प्रतिभा तथा नाटक की विधा दोनों को है। यदि किसी उपन्यासकार को यही सब कहना होता, तो वह अपनी कथा के लिए कम-से-कम पाँच सौ घने पृष्ठ का विस्तार करता।

नाटक का अभिनय-पक्ष जटिल नहीं है। नाटक में सामान्य दृश्य-विधान हैं, छोटे और सरल वाक्यों का प्रयोग है। कथा की घटनाओं में कथा-रस और अनुराग की धारा आदि से अन्त तक विद्यमान है, इस धारा का मनोरम पक्ष यह है कि इसके बीच में कई संस्कृति के शिखर शिर उठाकर अपना परिचय देते हैं, जिन पर तर्क के वृक्षों की हरियाली छायी है। अनुराग की दो समानान्तर धाराएँ हैं—एक तो सुमित्र और चन्द्रभागा का अनुराग है, जो नाटक के वर्तमान में है। दूसरा मेनका और नर का है, जो पूरे नाटक की पृष्ठभूमि है। प्रह्लाद के राज्य की ओर से आश्रम को जितना अधिक दान, सहायता और सम्मान मिला है, उसके मूल में यह अनुराग है। मेनका नर से कहती है—"मैंने इन आश्रमों के लिए कुछ नहीं किया...मैंने जो कुछ किया है, केवल आपके लिए। गो, वस्त्र, भूमि जब कभी दिये जाने का प्रस्ताव मैंने किया, मेरे सामने भूर्जपत्र या मृगचर्मधारी किसी तरुण ऋषि की मूर्ति सदैव जैसे साकार हो उठती थी..." (दूसरा अंक)।

नाटक का समन्वयात्मक पक्ष तथा संस्कृति की विजय ही सच्ची विजय है—ये दोनों बातें आज के सन्दर्भ में भी वैसी ही सत्य हैं, जैसी सत्य ये उस पुराकाल में थीं। नाटक की समाप्ति पर उसे हृदयंगम कर लेने के बाद एक प्रश्न-चिह्न हमारे सामने आ जाता है कि प्रह्लाद का सत्य क्या है ? वही जो नाटककार ने कहा, जो इतिहास के युगों में राजकुमारों का सत्य रहा है अथवा वह सत्य है, जो *भागवत पुराण* में दिव्य चरित्र की अवतारणा की गयी है ?

यहाँ पर मिश्र जी के दो विशिष्ट नाटकों—**सिन्दूर की होली** (सामाजिक) तथा **नारद की वीणा** (पौराणिक सांस्कृतिक) की नाटकीय कथा का विश्लेषणात्मक परिचय दिया गया है। इससे मिश्र जी की रचना के नाटकीय पक्ष और उसमें उनके रचना-सिद्धान्तों का कितना सन्निवेश हुआ, इसका पता चल जाता है। परम्परा का आग्रह, रचनाकार व्यक्ति नहीं विधाता है, साहित्य में अपने राष्ट्र और मातृभूमि की पहचान होती है, जीव धर्म या भावलोक ही साहित्य है, **नवो नवो भवति जायमानः**—सृष्टि नित्य नवीन होती है तथा साहित्य भी सदैव नूतन होता है—आदि साहित्य-रचना के सिद्धान्तों की जीवन्तता उनकी कृतियों से प्रमाणित होती है।

उनके एक अन्य श्रेष्ठ सामाजिक नाटक *मुक्ति का रहस्य* का परिचय दूसरे अध्याय में दिया जा चुका है।

अब मिश्र जी के अन्य श्रेष्ठ ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटकों का नामोल्लेख किया जा रहा है, जिनकी रचना हिन्दी-साहित्य के लिए गौरव की बात है—

गरुड़ध्वज (1945 ई.)—इतिहास-कथा का सांस्कृतिक नाटक है। इसका कथानक ईस्वी पूर्व प्रथम शती का है। इस नाटक की मुख्य कथा मालवा के शासक विषमशील 'विक्रमादित्य' की है, जिन्होंने शुंग शासक विक्रममित्र की सहायता से शकों को पराजित कर अवन्ती का उद्धार किया। यवनशासक अन्तलिखित ने सीमा के विवाद में अपने दूत हेलिओदर को भेजकर विक्रममित्र से जो सन्धि की, उसकी स्मृति में कृष्णभक्त हेलिओदर ने उसी समय विदिशा में गरुड़ध्वज का स्तम्भ स्थापित किया था। नाटक की भाषा सांस्कृतिक कृति होते हुए सुगम और सरल है।

वत्सराज (1949 ई.)—नाटक में कौशाम्बी के सम्राट् उदयन की भावपूर्ण विचारोत्तेजक़ कथा है, जिसमें उदयन ने गौतमबुद्ध द्वारा भिक्षु बनाये गये अपने पुत्र को श्रमणधर्म से वापस का राज्य कर भार सौंपा है। उसको जीवन और धर्म के कर्त्तव्य में नियुक्त किया है तथा इसके बाद स्वयं संन्यास लिया है।

दशाश्वमेध (1950 ई.)–इसकी कथा भारशिवनाग-सम्राट् वीरसेन के नवोन्मीलित इतिहास पर आधारित है। द्वितीय शती के अन्त में वीरसेन ने कुषाणों को पराजित कर गंगा की धारा को स्वतन्त्र किया तथा काशी में दस अश्वमेध यज्ञ किये। कान्तिपुरी (वर्तमान मिरजापुर) उसकी राजधानी थी।

वितस्ता की लहरें (1953 ई.)–इस नाटक की कथा यूनान-सम्राट् सिकन्दर द्वारा भारत पर आक्रमण की कहानी है। उसने भारत के महान् मगध-साम्राज्य का नाम सुन रखा था। उसको विजय करने की आकांक्षा से वह चला था, पर भारत में प्रवेश करते ही कैकय देश के राजा पुरु से वितस्ता (झेलम) नदी के तट पर उसका जो युद्ध हुआ, उसमें ही उसकी सेना की हिम्मत टूट गयी, आगे बढ़ने से सेना ने इनकार कर दिया। सिकन्दर लौट गया। युद्ध में कैकय-नरेश पुरु जिन आदर्शों के लिए लड़ा और जैसी वीरता दिखायी, उससे अपनी परम्परा के प्रति हमारा हृदय श्रद्धा से झुक जाता है। पराक्रम और संस्कृति की हृदयग्राही अभिव्यक्ति नाटक में हुई है।

धरती का हृदय (1961 ई.)–उपर्युक्त इतिहास के क्रम में यह संस्कृति-प्रधान नाटक भी वैसा ही है, जिसमें आचार्य विष्णुगुप्त (चाणक्य) की अपनी नीति और कूटनीति से मगध-सम्राट् सुमाल्य नन्द और उसका मन्त्री राक्षस देश की एकता के लिए मगध का सिंहासन आचार्य को ही सौंप देते हैं तथा आचार्य उस सिंहासन पर चन्द्रगुप्त को आरूढ़ कर राक्षस को उसका सहायक बनाते हैं। दोनों मिलकर गान्धार के शासक सिल्यूकस को विजय करते हैं। सिल्यूकस की पुत्री हेममाला का विवाह चन्द्रगुप्त से होता है। नाटक की मूल कथा में मिश्र जी ने नया इतिवृत्त यह जोड़ दिया है कि चन्दुगुप्त की माता देवकी का अपहरण महापद्म नन्द ने किया था। देवकी तथा मातृभूमि दोनों के उद्धार के लिए आचार्य विष्णुगुप्त ने नन्दवंश का सिंहासन उलट दिया। संस्कृत में विशाखदत्त का प्रसिद्ध *मुद्राराक्षस* नाटक इसी कथानक पर आधारित है, पर इस नाटक में कोई स्त्री पात्र नहीं है, नाटक राजनीति-रस से सिक्त है। मिश्र जी का *धरती का हृदय* नाटक भी उसी इतिहास-भूमि पर लिखा गया है, पर इसमें पाँच स्त्री पात्र हैं। पूरा नाटक–राजनीति, जीवन के भावलोक तथा सांस्कृतिक नदी–इन तीन धाराओं का संगम है। नाटककार धरती के हृदय का दर्शन कराना चाहता है, जो अमृत से घिरा है।

चक्रव्यूह (1954 ई.)–इस नाटक की कहानी महाभारत के द्रोण पर्व की मर्माहत करनेवाली वह घटना है, जिसमें 16 वर्ष का महारथी अभिमन्यु अकेले ही आचार्य द्रोण के चक्रव्यूह को तोड़ता है तथा अन्त में सात महारथियों से अकेले

ही युद्ध करता हुआ मारा जाता है। उसके साथ सुयोधन का पुत्र लक्ष्मण भी वीरगति प्राप्त करता है। इस प्रकार दोनों कुलों का वंश-दीप बुझ जाता है। चक्रव्यूह में अभिमन्यु के युद्ध की कहानी बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय है, अभिमन्यु के मारे जाने के प्रतिकार में दूसरे दिन अर्जुन ने चुनौती देकर जयद्रथ का वध किया था। किन्तु मिश्र जी की नाटक-रचना का उद्देश्य कुछ और है, युद्धाग्नि की लपटों में जलते हुए कुरुवंश की चिन्ता से कुल के पितामह भीष्म मर्माहत हैं और वे अभिमन्यु की गर्भवती वधू उत्तरा की भावी सन्तान के कल्याण की कामना करते हैं। नाटक के अन्त में युद्ध की आग में भस्म होते कुल की रक्षा की संवेदना के रस में हम सिसक उठते हैं। सांस्कृतिक नाटकों में इस नाटक का शिल्प अपेक्षाकृत नया है।

अपराजित (1965 ई.)–इस नाटक में महाभारत के महान् पराक्रमी योद्धा द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा की उज्जवल वीरता को प्रकट करना कृतिकार का लक्ष्य है। सौप्तिकपर्व के युद्ध का कलंक तथा अश्वत्थामा को पराजित कर मणि छीने जाने की कहानी–इन दोनों कथाओं की असत्यता नाटक में प्रतिपादित हुई है। मिश्र जी को इनके झूठा होने का आभास सौराष्ट्र में दक्षिण-पूर्व समुद्र के तट पर हाथव गाँव के निकट स्थित 'न कलंकेश्वर' शिवलिंग के इतिहास से हुआ है।

जगद्गुरु (1958 ई.)–मिश्र जी ने आदि शंकराचार्य के धार्मिक समन्वय की महान् क्रान्ति को लेकर *जगद्गुरु* नाटक की रचना की। इस नाटक में राष्ट्र की एकता, धर्म तथा संस्कृति की बातों को कहने के लिए बड़े सुबोध प्रसंग प्रस्तुत किये जा सके हैं। शंकराचार्य ने देश के चारों दिशाओं में एक-एक मठ की स्थापना भारत-भूमि की एकता को स्थाई बनाने के लिए की थी, आज स्वतन्त्र भारत में वे चारों मठ यथास्थान हैं तथा हिमालय से समुद्र तक देश की एकता का सन्देश दे रहे हैं। नाटकीय दृष्टि से कथा का मुख्य आकर्षण मण्डन मिश्र तथा उनकी पत्नी भारती के साथ आचार्य शंकर का शास्रार्थ है।

मृत्युंजय (1957 ई.)–नाटक महात्मा गाँधी के अन्तिम जीवन की घटनाओं का दृश्यांकन करता है। नाटक के तीसरे अंक में उनकी हत्या की घटना घटित होती है। नाटक में मिश्र जी ने भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य की प्रतिष्ठा को देश की अस्मिता के लिए अनिवार्य कहा है। वे अपने व्याख्यानों में प्रायः कहते रहे हैं कि यदि देश के विश्वविद्यालयों में शेक्सपीयर के नाटक न पढ़ाये गये होते, जिनमें रंगमंच पर ही जघन्य हत्याएँ की जाती है, तो गाँधी जी की हत्या की प्रेरणा भारतीय युवक को न मिलती। शेक्सपीयर के नाटकों का पठन-पाठन गाँधी जी की

हत्या का कारण बना। यह चिन्तन इस नाटक में ओत-प्रोत है। नाटककार ने सरदार पटेल के मुँह से कहलाया है–

"अभी-अभी कहा था उन्होंने कि उनका हत्यारा शेक्सपीयर के नाटकों को पढ़ चुका-होगा। अपनी बनावट में वह या तो ब्रूट्स होगा या मैकवेथ :...विदेशी साहित्य का अभी कितना कुफल यह देश भोगेगा।" नाटक हत्या की कुछ वर्ष पूर्व की घटनाओं पर आधारित है, इसके पात्र राष्ट्रीय स्तर के लोग हैं। लेकिन तब वे सभी दिवंगत हैं, जब (1957 ई.में) यह नाटक लिखा गया। वे हैं–महात्मा गाँधी, सरदार वल्लभ भाई पटेल, मीरा बहन, सरोजनी नायडू, नरेन्द्र देव, अबुल कलाम आज़ाद, देवदास (महात्मा गाँधी के पुत्र)।

नाटकों के क्रम में मिश्र जी के एकांकी भी उतनी ही जीवन्त रचनाएँ हैं, कोई-कोई एकांकी प्रभावकारिता में अथवा मन को छूने में नाटकों से भी आगे है। इनमें भी भारतीय संस्कृति को प्रतिष्ठापित करने की तीव्र चिन्ता है, भाव-बोध, व्यवहार जगत् में जीवन की समस्याएँ, काम-समस्या के प्रश्न, बुद्धि और तर्क तथा सांस्कृतिक परम्परा का अन्तःप्रकाश–ये सभी मिलकर एकांकी के कथारस को विलक्षण स्वाद से युक्त कर देते हैं, वह केवल भरतमुनि का नाट्य रस नहीं रह जाता। बुद्धि और तर्क की शिलाओं और ऊँचाइयों से टकराकर कथारस की परिणति कुछ और हो जाती है, उसे सांस्कृतिक रसायन भी कह सकते हैं। इस दृष्टि से उनके एकांकियों में *एक दिन, स्वर्ग में विप्लव, देश के शत्रु, विषपान, नारी का रंग, अशोक वन*–विलक्षण नाट्यकृतियाँ है, हिन्दी नाट्यसाहित्य के गौरव हैं।

स्वर्ग में विप्लव

इनमें *स्वर्ग में विप्लव* एकांकी 1942 ई. के क्रान्तिकारी आन्दोलन की एक घटना पर आधारित समस्या-प्रधान नाट्य-रचना है। आन्दोलन के समय अष्टी और चमूर (आन्ध्र-प्रदेश) में जनता ने अंग्रेज़ों के पक्षधर देश-द्रोहियों की हत्या कर दी थी, बाद में अंग्रेज़ी सेना ने वहाँ बड़ा अत्याचार किया, घरों में घुसकर बच्चों तक को मारा तथा स्त्रियों का सतीत्व लूटा। ऐसी ही एक बलात्कार की गयी स्त्री को, उसके पति ने, जो सरकारी नौकरी में था, त्याग दिया। यह बात उन दिनों महात्मा गाँधी से भी कही गयी थी, गाँधी ने एक वक्तव्य दिया था कि सीता ने अपनी पवित्रता की रक्षा रावण से कैसे कर ली थी। उन स्त्रियों को अपने धर्म की रक्षा प्राण देकर करनी चाहिए थी। उस युवती ने देखा कि देश के महान् पुरुष महात्मा गाँधी भी हमें अ-सती समझते हैं। गाँधी के इस वक्तव्य के बाद ही उसके पति ने

उसका त्याग किया था। इस परिताप से वह युवती ज़हर खाकर मर गई और स्वर्ग में पहुँची। एकांकी की कथा स्वर्ग में शुरू होती है।

स्वर्ग में उस युवती ने धर्मराज यम से जानना चाहा कि सीता ने अपने धर्म की रक्षा कैसे की थी ? वहाँ वाल्मीकि, धर्मराज, तुलसीदास, सावित्री, रावण और वह युवती—इन पात्रों के बीच इस समस्या को लेकर धर्म, तर्क, आचरण और शील का आख्यान समस्या के समाधान के रूप में होता है। जिसका संक्षेप यह है कि लंका में सीता की रक्षा का कारण रावण का महान् शील था। रावण कहता है कि जिस देश में प्रतिवर्ष मेरा पुतला जलाया जाता है, वह देश सदा गुलाम बना रहेगा, इसलिए कि वह मेरी इस नैतिकता का आदर नहीं करता। वह भूल जाता है कि सीता का हरण मैंने अपनी बहन के प्रतिशोध में किया था, हरण के बाद मैंने सीता के साथ ऊँची नैतिकता का व्यवहार किया। नाटककार रावण के प्रति गाँधी की धारणा को ग़लत बताता है। उसका कहना है कि गाँधी का व्यक्ति-सत्य बिजली की कौंध के समान लोगों की आँखें झँपा देने के लिए है, वस्तुतः वह व्यवहार का सत्य नहीं है।

गाँधी जी के सत्य की कसौटी मिश्र जी ने उनके वर्तमान में ही की है। इतिहास की ईस्वी पूर्व प्रथम शती से लेकर आठवीं तक के विहारों और मठों का जैसा नैतिक पतन हुआ, यहाँ तक कि वे देश के प्रति द्रोह के लिए भी उतारू हो गये, इसकी चर्चा मिश्र जी के *गरुड़ध्वज, वत्सराज* तथा *जगद्गुरु* नाटकों में आती है। पश्चिमी साहित्य तथा शेक्सपीयर के नाटकों का जैसा विषम विपरीत प्रभाव भारतीय युवकों पर पड़ा, इसका आख्यान भी मिश्र जी के नाटक तथा काव्य का विषय रहा है। ऐसा दो टूक सत्य कहने के लिए मिश्र जी हिन्दी-साहित्य के रचना-क्षेत्र में स्मरण किये जाते रहेंगे।

4

'कालजयी' महाकाव्य

मिश्र जी के नाटकों की रचना के दो धरातल रहे हैं—(1) समस्या-प्रधान कथावस्तु (2) संस्कृति तथा राष्ट्रीय अस्मिता के कथानक। इन दोनों प्रकारों में लिखे गये उनके नाटकों की विस्तृत चर्चा पीछे के अध्यायों में की गयी है। हिन्दी-जगत् में मिश्र जी को ख्याति तो नाटक-रचना से प्राप्त हुई, किन्तु जिसके कारण वे कवि-सृष्टि के स्रष्टा कहे जाएँगे, वह रचना उनका *कालजयी* महाकाव्य है। उनके रचना-धर्म का समस्त विस्तार इस महाकाव्य में है, इसमें हम समस्या-विजड़ित आख्यान तथा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता का कथानक—दोनों की गूढ़ उपस्थिति देख सकते हैं।

कर्ण की उदात्त गाथा

कालजयी महाकाव्य व्यास-कृत महाभारत के महान् चरित कर्ण के जीवन को आधार बनाकर लिखा गया है। कर्ण के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। समूचा भारतीय जन-मानस कर्ण के चरित से परिचित है। कर्ण पाण्डु की रानी कुन्ती से (विवाह के पूर्व) कुमारी अवस्था में मंत्र से आहूत सूर्यदेव द्वारा उत्पन्न पुत्र था। वह एक तरह से पाण्डव युधिष्ठिर का बड़ा भाई था। लेकिन यह रहस्य युधिष्ठिर को युद्ध के बाद ही मालूम हुआ। कर्ण ने परशुराम से अस्त्र विद्या सीखी थी, जन्म से ही परम पराक्रमी, सत्यवादी तथा शीलवान् था। संयोग यह था कि जन्म के बाद ही कुन्ती ने उसे एक पिटारी में सुरक्षित रखकर गंगा की धारा में बहा दिया था तथा रथ हाँकनेवाले एक सूत अधिरथ ने उसे प्राप्त किया।

वह कुरुवंश का ही सूत था, उसके सन्तान नहीं थी, उसकी पत्नी राधा ने बड़े लाड़-प्यार से उसका पालन किया। किशोरावस्था आते ही उसकी तेजस्विता दमक उठी। आचार्य द्रोण द्वारा पाण्डवों तथा कौरवों की अस्त्रशस्त्र-शिक्षा जब पूरी हो चुकी, तब उनके अस्त्र-शस्त्रों के कौशल-प्रदर्शन का एक समारोह मनाया गया। उसमें अर्जुन के शस्त्रास्त्र-कौशल को देखकर समूची सभा विमोहित हो गयी, सभी ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। यह घोषणा-सी हो गयी कि अर्जुन के समान कोई दूसरा धनुर्धर नहीं है। धृतराष्ट्र-पुत्र सुयोधन इससे बहुत मर्माहत हुआ, क्योंकि पाण्डवों से उसका वैर स्वाभाविक था। उसकी इस उदासी के बीच कर्ण रंग-स्थल पर आ खड़ा हुआ और उसने शस्त्रास्त्र-कौशल के प्रदर्शन में अर्जुन को चुनौती दे दी और कहा कि धनुर्वेद में मैं अपने को अर्जुन से कम नहीं समझता। रंगस्थल पर इस आकस्मिक उपस्थित द्वन्द्व से स्तब्धता छा गयी, इस द्वन्द्व को टाल देने की दृष्टि से कृपाचार्य ने आगे आकर कहा कि कर्ण भले धनुर्वेद का ज्ञाता हो, किन्तु वह सूत-पुत्र है, अर्जुन राजकुमार है, इसलिए अर्जुन की प्रतिद्वन्द्विता सूतपुत्र से नहीं हो सकती। इस बात से कर्ण अपमानित हो गया और पीछे हटने को हुआ, तब तक सुयोधन आगे बढ़ा, उसने कहा कि यदि अर्जुन की प्रतिद्वन्द्विता राजपुत्र से ही होगी तो मैं अभी कर्ण को अंग देश का राज्य देकर राजा घोषित करता हूँ और उसने अपना राजमुकुट कर्ण के माथे पर सुशोभित कर दिया। बड़े लोगों ने प्रतिद्वन्द्विता को बुद्धिमानी से रोका। किन्तु प्रतिद्वन्द्विता के बीच घटित इस घटना ने काल के प्रवाह को बदल दिया। प्रतिद्वन्द्विता रोक दिये जाने पर सुयोधन ने अपना विरोध प्रकट किया और कर्ण का हाथ पकड़कर अपने भाइयों के साथ रंगभूमि से चला गया। सुयोधन ने कर्ण को मैत्री का जो सम्मान दिया, उस मैत्री को कर्ण जीवन भर नहीं भूला। युद्ध की विभीषिका जब सामने आ गयी, तब उसकी माता कुन्ती ने भी आकर उसके जन्म का रहस्य बताया, कृष्ण जब सन्धिदूत बनकर आये, तब उन्होंने भी कर्ण को उसके जन्म का रहस्य बताकर उसे पाण्डव-पक्ष में आने को कहा, पर सत्यवादी और शीलवान् कर्ण किसी प्रकार कुरुराज सुयोधन का साथ छोड़ने को तैयार नहीं हुआ, उसने माता कुन्ती को यह वचन अवश्य दे दिया था कि युद्ध होने पर अर्जुन को ही अपना लक्ष्य बनाऊँगा, उनको छोड़कर शेष चार पाण्डवों को युद्ध में मारूँगा नहीं। इसका पालन उसने युद्ध में किया। सच बात यह थी कि सुयोधन को कर्ण का बड़ा भरोसा था। कर्ण के बल पर वह अपने को अजेय समझता था। उस समय के नीतिमन्तों का यह अध्ययन था कि यदि कर्ण सुयोधन का पक्ष छोड़कर पाण्डवों की ओर आ जाता तो युद्ध टल सकता था। अथवा युधिष्ठिर को ही यह ज्ञात हो जाता कि कर्ण भी माता कुन्ती का पुत्र है,

तो वह स्वयं इस युद्ध को रोक देते। इतिहास का कटु सत्य यह था कि भगवान् कृष्ण स्वयं इस युद्ध के पक्ष में थे और कुलीनता का अभिमान रखनेवाले समूचे क्षत्रियों का विनाश चाहते थे। इन सारी परिस्थितियों में कर्ण महाभारत-युद्ध का विशिष्ट केन्द्र-बिन्दु है, उसका जन्म युद्ध तक रहस्य बना रह गया। वह महाभारत-कथा का ज्वलन्त पक्ष है तथा समस्याओं से परिपूर्ण गूढ़ कथा-नायक है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस अति उदात्त, परम वीर तथा गूढ़ चरित अ-कुलीन को अपने महाकाव्य का कथा-नायक बनाकर अद्‌भुत काव्य-सृष्टि की है। महाकाव्य की कथावस्तु महाभारत-युद्ध के कर्ण-पर्व की है। कौरव-सेना के सेनापति आचार्य द्रोण को कृष्ण ने छल से मरवा दिया, उसके बाद विषाद से भरे सुयोधन ने अपने परम मित्र महारथी कर्ण को सेनापति पद पर अभिषिक्त किया। द्रोण के मारे जाने के बाद रात्रि में पाण्डव तथा कौरव—दोनों शिविरों में अलग-अलग मन्त्रणाएँ होती रहीं। शरशय्या पर पड़े पितामह भीष्म का दर्शन करने भी दोनों पक्ष के लोग गये तथा प्रातःकाल कर्ण का सेनापति पद पर अभिषेक किया गया। इस समूची रात्रि के चार प्रहर तथा प्रातःकाल—दूसरे दिन के प्रथम प्रहर की घटनाओं पर कवि ने पाँच सर्गों की रचना की है। शेष दो दिन की घटनाओं पर, जब तक कर्ण सेनापति रहा, छह सर्गों की रचना करनी थी, लेकिन 30 जनवरी 1948 को जब महात्मा गाँधी की हत्या कर दी गयी, कवि की लेखनी अवरुद्ध हो गयी, अधूरे नवें सर्ग तक ही महाकाव्य लिखा जा सका। अपने इस अधूरे स्वरूप में भी यह महाकाव्य अपने उदात्त भावों तथा अनोखे शिल्प के लिए और भावों की अभिव्यक्ति में समर्थ भाषा के कारण विलक्षण है। इन सबसे अतिरिक्त इसका परम वैशिष्ट्य महाभारत के समग्र इतिहास, भारतीय जीवन के आचार और सांस्कृतिक मान्यताओं की सरल अभिव्यक्ति है।

कथा-प्रबन्ध का संक्षेप और रचना-सौन्दर्य

प्रथम पाँच सर्ग, जिनकी रचना सन्ध्याकाल से प्रभातकाल तक की घटनाओं को लेकर हुई है, उनके नाम क्रमशः हैं—मन्त्रणा, चिन्ता, सृष्टिधर्म, विषाद और अर्घ्यदान। सर्गानुसार कथा का विश्लेषण तथा रचना-सौन्दर्य का परिचय दिया जाता है—

सर्ग 1 मन्त्रणा

इस सर्ग में द्रोण की मृत्यु से आहत कौरव महारथी कुरुराज सुयोधन के साथ किंकर्त्तव्यविमूढ़ बैठे हैं। सुयोधन निराश है, दैव को दोष दे रहा है, कृष्ण की

कुटिलता की आलोचना करता है। कृतवर्मा कृष्ण के उस कपट की याद करता है, जब वे द्वारका से यादव गणतन्त्र की समची सेना को पाण्डव-पक्ष में लड़ने को भेज रहे थे। लेकिन गणपति बलराम को यह समाचार ज्ञात हो गया, उन्होंने कृष्ण का विरोध किया और यादवी सेना को कौरवों के पक्ष में भेजा। इसी बीच पाण्डव शिविर से भीमसेन ने उल्लास में अपना पौण्ड्र-शंख बजाया। सुयोधन और भी आहत हुआ उसने कर्म-लिपि को कोसा। तब गुरुपुत्र अश्वत्थामा ने उसके वीरदर्प की याद दिलायी और कहा, "आपने गर्जना की है अनौरस पुत्र को सिहांसन, राजदंड, राजछत्र पद का अधिकार नहीं देने दूँगा, भले प्राण दे दूँगा। आज जीवन के मोह में राजनीति और वीरव्रत को भूल रहे हो तो अच्छा है, पाण्डवों से सन्धि कर लो, पर यह अश्वत्थामा अब शत्रुवन में दावानल बनकर जलेगा, एकाकी लड़ेगा। धृष्टद्युम्न के रुधिर से पितृदेव का तर्पण करेगा।" इतना कहता हुआ वह वेग से शिविर से बाहर हो गया और वसुसेन कर्ण के पास पहुँचा। यहाँ पर कवि ने अश्वत्थामा के वीररूप का यथोचित आकर्षक वर्णन किया है। कर्ण ने अश्वत्थामा का जो रौद्र रूप देखा, तो उसे शस्त्र उतार देने और शान्त होने को कहा। अश्वत्थामा ने उत्तर में कहा, "मुझे अपने पितृ-वध का बदला चुकाना है, क्योंकि दो बातें हो चुकी हैं—धर्मसुत (युधिष्ठिर) ने युद्ध-भूमि में झूठ बोलकर लोकधर्म का त्याग कर दिया है, दूसरी ओर कुरुराज सुयोधन वीरधर्म छोड़कर रो रहे हैं, अब पाण्डुपुत्रों से युद्ध नहीं, सन्धि करेंगे। मुझे शान्त न करो, पुत्र का जो कर्त्तव्य है, मैं उसे करूँगा।" कर्ण ने कहा—"अरे, चलो देखूँ मैं, नृपेन्द्र किस हेतु रो रहे हैं।" तत्काल दोनों वीर सुयोधन के शिविर में आये। कर्ण ने सुयोधन को आश्वस्त किया। कल के युद्ध में अर्जुन को मारने का निश्चय जताया। अपने कालपृष्ठ धनुष की घोर टंकार की, जिससे शत्रुदल काँप उठा।

सर्ग 2 चिन्ता

इस सर्ग के दो भाग हैं, पहले भाग में पाण्डवों की चिन्ता है कि महारथी कर्ण की पराजय कैसे सम्भव होगी, सर्ग का उत्तरार्ध नारी-जीवन की युग-युग से आती मान्यताओं का बड़ा सजीव चित्र प्रस्तुत करता है, जिसमें पाण्डव भीम की पत्नी राक्षस-कुमारी हिडिम्बा यमुना-तट पर अपने पुत्र घटोत्कच के साथ बैठी युद्ध में पति की विजय के लिए आकुल है। घटोत्कच ने कभी पिता को देखा नहीं है, पर हिडिम्बा जिस प्रकार वहाँ जाने तथा परिचय देने का आचार पुत्र को सिखाती है, वह सब इस महाकाव्य की कथावस्तु का अनोखा पक्ष है। राक्षस-कुल की नारी हिडिम्बा का यह चरित्र इस महाकाव्य का विशिष्ट प्रसंग है, जैसा चरित हिन्दी के

किसी दूसरे कवि द्वारा निबद्ध नहीं हुआ है। मिश्र जी ने महाभारत के अनुसार ही हिडिम्बा के चरित का वर्णन किया है, किन्तु प्रसंग की उद्‌भावना उनकी अपनी है। हिडिम्बा *महाभारत* में भी और *कालजयी* में भी नारी-संस्कृति की प्रतिमूर्ति है।

सर्ग 3 सृष्टिधर्म

इस सर्ग में शरशय्या पर पड़े पितामह भीष्म के परिप्रेक्ष्य में और निकट में घटित घटनाओं का निबन्धन किया गया है। भीष्म आजीवन ब्रह्मचारी रहे, जो सृष्टिधर्म के विरुद्ध है, वे इच्छा-मृत्यु होकर शरशय्या पर पड़े हैं, जब सूर्य उत्तरायण होगा, तब वे मृत्यु का वरण करेंगे। कवि ने भीष्म के इस व्रत को सृष्टिधर्म के विपरीत माना है। काम, जो इन्द्र का मित्र है, अब भी अपने पुष्पबाणों की वर्षा से उनको पीड़ित करता है, वह देवलोक में इसकी चर्चा कर रहा है। अर्ध-रात्रि में समकाल इन्द्रलोक के इस वर्णन के बाद कवि युद्धभूमि में शरशय्या पर पड़े भीष्म की ओर आता है। तभी पाण्डवों की माता कुन्ती भीष्म के पास दवी सहमी-सी आती है, वह कर्ण के जन्म का रहस्य खोलती है और प्रार्थना करती है कि आप किसी प्रकार युद्ध बन्द करा दें, जिससे मेरे पुत्र कर्ण और अर्जुन जीवित रहें। कर्ण के जन्म का रहस्य और दोनों पुत्रों के जीवन के प्रति माता की ममता—दोनों ही बातें कुन्ती ने विषम परिस्थिति में ही कही हैं, यह सब सृष्टि-धर्म के ही तारतम्य में है। कवि ने माता के ममत्व का करुणा-पूर्ण अत्यन्त सजीव चित्रण किया है। यह चित्रण इसलिए भी और अधिक हृदयहारी हो गया है, क्योंकि रहस्य है, एकान्त है, लोक इसे नहीं जानता। अब युद्ध कैसे बन्द हो सकता है, पर माता की ममता को क्या कहा जाये, कुन्ती को निराश होना पड़ा। नियति को कोसती हुई वह पीछे लौटी। कुन्ती जब भीष्म से वार्ता कर रही थी, तभी कर्ण वहाँ आ गया था, लेकिन दूर खड़ा था, उसने पितामह भीष्म की अवहेलना की थी, पितामह भी उसे अर्धरथी कहते थे। कल उसे कुरुसेना का नेतृत्व करना था। इसके पूर्व वह रात्रि में पितामह से क्षमा माँगने तथा युद्ध के लिए आज्ञा लेने आया। वार्ता कर जब कुन्ती नियति को कोसती लौट रही थी, कर्ण ने उसकी नियति का उत्तर देते हुए वहाँ प्रवेश किया।

कथावस्तु में प्रकरण-वक्रता की यह हृदयावर्जक योजना है। यहाँ कर्ण-कुन्ती का संवाद मर्म को छू लेता है। कर्ण की बातें सुनकर कुन्ती निरुत्तर हो जाती है, वह विजय की कामना करती हुई लौटती है। कर्ण ने भीष्म से अपने अविनय के लिए क्षमा माँगी। भीष्म ने उसके शीश पर हाथ रखा तथा अर्धरथी कहने के लिए

मनस्ताप किया। कर्ण का शीश उनके चरणों पर झुक गया। यह सर्ग इस महाकाव्य के प्राण है। पूरी कथावस्तु की संजीवनी जैसे इस सर्ग से प्रसृष्ट होती है।

सर्ग 4 विषाद

कथा की दृष्टि से इस सर्ग के दो भाग हैं। पूर्वार्ध में कुरुकुल के उपनायक महारथी सुशासन की पत्नी का विषाद है, सुशासन की पत्नी वासन्ती ने अभी रात्रि में बड़ा भयकारक स्वप्न देखा है। उसने स्वप्न में देखा, भीम ने गदा के प्रहार से प्रियतम की छाती तोड़ दी है और अंजली में रक्त लियें भागा और जाकर द्रौपदी के शीश पर उड़ेल दिया। यह स्वप्न वह रोते-रोते बड़ी कठिनाई से कह पायी। सुयोधन की पत्नी भानुमती भी आ गयी, उसने भी अपने देवर को युद्ध में जाने से रोका। यहाँ भानुमती की बातें स्त्री-जनोचित तथा अत्यन्त भावपूर्ण हैं। वह कहती है कि क्या युद्ध ही हमारे लिए कर्म रह गया, मेरा पुत्र लक्ष्मण चला गया। अब देवर ही मेरा पुत्र है। कुरुपति युद्ध करें, मैं तुमको युद्ध में नहीं जाने दूँगी। हम यह राज्य, धन तथा धरती छोड़ देंगे, किसी और ही पुण्यभूमि में बसेंगे, पर आर्य धृतराष्ट्र का वंश नहीं डूबने दूँगी। कवि ने भानुमती के संवाद में युद्ध की विभीषिका से उत्पन्न चिन्ता और विषाद का सच्चा चित्र खींचा है। नीचे की पंक्तियाँ नारी-हृदय के उद्गार हैं—

> **दैव विपरीत बना जैसा रहा अब लौं**
> **तब भी अकेले तुम्हें वत्स ! मैं बचाऊँगी**
> **डूबने न दूँगी, वंश आर्य धृतराष्ट्र का।**
> **छोड़ यह राज्य, धन धरती, नरेन्द्र की**
> **पुण्यमयी भूमि में बसेंगे वनवासी हो।**
> **पर्वत-दरी को राजसद्म सम मान के**
> **परिजन बनाएँगे वनेचर किरातों को**
> **शबरों को, यक्ष और विद्याधर कुल सभी**
> **सुलभ रहेंगे हमें कुल के प्रसाद से।**

सर्ग का दूसरा भाग पाण्डव-शिविर के विषाद का है। कल के युद्ध में कुरुसेना का सेनापतित्व कर्ण करेगा, उसका सामना कौन करे, इस चिन्ता में पाण्डव-सेना के महारथी शिर झुकाये बैठे हैं, कृष्ण हँस रहे हैं। चिन्ता का कारण यह है कि कर्ण के पास देवराज इन्द्र-प्रदत्त शक्ति-आयुध है, जिससे एक बार वह किसी का संहार कर सकता है, इसलिए कल अर्जुन का कर्ण से युद्ध करना ठीक

नहीं होगा। तब कौन महारथी उससे युद्ध करेगा। द्रौपदी इस प्रश्न से बहुत क्षुब्ध है, वह कहती है कि यदि अर्जुन को भय है, तो मैं अकेले जाकर उस कालरिपु (कर्ण) से युद्ध करूँगी। यहाँ कवि ने द्रौपदी में दूसरा रूप देखा है, जो युद्ध को विराम देने का नहीं, युद्ध की आग को जला देने का कारण है, नारी का यह वह रूप है, जो अपने अहं के अतिरिक्त सबका विनाश चाहता है। अर्जुन ने आगे बढ़कर द्रौपदी के हाथों को अपने हाथों में रोष से समेट लिया, अपने अतीत के उन पराक्रमों का संक्षेप में जिक्र किया, जिसमें कर्ण पराभूत हुआ था और अन्त में आश्वस्त किया—इस समर में भी मेरे अस्त्रों से अर्धरथी राधासुत (कर्ण) खंड-खंड होगा और सभी वीरवनिताएँ द्रौपदी के भाग्यफल को शिर झुकाएँगी।

इसी बीच सहसा सभी भयाक्रान्त हो गये जबकि शिविर के द्वारपाल को धक्का देकर हिडिम्बा का पुत्र घटोत्कच वहाँ प्रवेश कर बैठा, उसके कराल रूप को देखकर महारथियों ने धनुष और गदा उठा ली। लेकिन दूसरी ओर घटोत्कच ने कर-सम्पुट को शिर से लगाया और झुककर सबको प्रणाम करते हुए बादल की-सी मन्द्रध्वनि में अपना परिचय दिया, यह परिचय कवि के शब्दों में बालक घटोत्कच की प्रकृत वाणी है, जैसा कि उसकी माता ने सिखाया था, कुछ पंक्तियाँ हैं—

दैत्यबाला जननी हिडिम्बा का तनय मैं
नाम है घटोत्कच, जनक भीमसेन हैं
पाण्डुपुत्र मेरे। कभी देखा नहीं जिनको
मैंने इन आँखों से न अग्रज को उनके
जानता हूँ धर्मराज धर्मधीर वे हैं जो
और वीरकुल के शिरोमणि अजेय जो
मझले चचा हैं पार्थ, माता ने विनोद में
जिनका सुनाया यशोगान बार-बार है।
कैसे कहूँ कौन हैं वे ? चरणों में जिनके
शीश अब टेक कर मेटूँ साध मन की।
. . . .
मुक्त किया माता ने मुझे है मातृ-ऋण से
और दे निदेश मुझे भेजा है कि जिससे
अनृण बनूँ मैं पितृ-ऋण से समर में
मारूँ वसुसेन को कि वीरगति को वरूँ।

पाण्डव-शिविर में विस्मय छा गया। युधिष्ठिर एकटक उसे देखते रहे, द्रौपदी देखकर विस्मय में डूबी थी, अर्जुन ने एक क्षण उसे देखकर जब भीमसेन की ओर

देखा, तो देखा कि अग्रज की आँखों में वात्सल्य के आँसू छा गये हैं। द्रौपदी ने आगे बढ़कर उसके शिर पर हाथ रखा, उसका कण्ठ सहलाया, घटोत्कच माता के चरणों पर गिर पड़ा। कृष्ण हँस रहे थे। कल कर्ण से कौन युद्ध करेगा, इस समस्या का समाधान हो गया था।

सर्ग 5 अर्घ्यदान

सर्ग 5 में भी समकाल में घटित दो घटना-स्थलों की कहानी है—एक स्थल कौरव-शिविर है, दूसरा पाण्डव-शिविर। प्रभात हो गया है, कुरुराज सुयोधन ने कर्ण के सेनापति-पद पर अभिषेक किये जाने की पूरी तैयारी कर ली है। कर्ण ने स्नान कर उदय होते सूर्य को अर्घ्यदान किया है। इसी पर इस सर्ग का नाम अर्घ्यदान किया गया है। अभिषेक के प्रसंग को लेकर कवि ने भारतीय धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्रिया-कलाप का समग्र परिचय देना चाहा है। कर्ण के अर्घ्यदान में भी उसने विधि तथा सामग्री से परिचित कराया है। आज कर्ण का अर्घ्यदान महत्त्व रखता है। सम्भवतः सूर्य को प्रणाम कर निर्णायक समर में जा रहा है। अभिषेक के सम्वन्ध में कवि ने विधि की औपचारिकताएँ अवश्य पूरी की हैं, जल से भरे सोने, चाँदी के कलशों से जलधारा गिरायी जाती है। ऋचाओं का गान हो रहा है, मणिमय पात्रों में ओषधियाँ रखी हैं, दूसरे वीर छत्र चामर लिये खड़े हैं। बैठने के लिए औदुम्बर (गूलर) का आसन है। राम के अभिषेक के प्रसंग में भी औदुम्बर चौकी का उल्लेख है। भारतभूमि से सम्बन्धित अन्य वस्तुएँ तथा ओषधियाँ भी हैं, जिनका उपयोग अभिषेक में होता था कवि ने उनका उल्लेख नहीं किया है। अभिषेक के समय कर्ण मित्र द्वारा प्राप्त सम्मान तथा अपने उत्तरदायित्व से विभोर तथा गम्भीर हो गया। वह सुयोधन के चरणों पर गिर पड़ा। कृपाचार्य ने कर्ण को आशीर्वाद दिया—"हे यशस्वी ! तुमने यह सिद्ध कर दिया है कि नर का पौरुष पूज्य है, कर्म की विभूति से जन्म का दोष मिट जाता है। जैसे शक्तिधर (कार्तिकेय) ने देवसेना को अजेय बनाया, वैसे ही हमारे सेनानी कर्ण रण में कौरव अनीकिनी को अजेय करें।" अभिषेक के अनन्तर ओषधियों तथा कस्तूरी का लेप कर्ण को किया गया। उस समय पौरुष से दीप्त कर्ण प्रातःकाल के सूर्य-सा चमक रहा था, उसके स्वरूप का आकर्षक वर्णन कवि ने किया है, जो हमारे धर्म तथा संस्कृति का पक्ष है—

> तेजपूर्ण वीर वसुसेन। देख जिसको
> बोध हुआ, चित्त में बसा है धर्म वीर के,
> कर्म में प्रताप, वसी इन्दिरा हैं आँखों में

वाणी में सरस्वती समायी अहा ! वायु का
वास पुरुषार्थ में है चकित नयन से
देखते थे वीर कुरुपक्ष के यशस्वी को।

अभिषेक-विधि सम्पन्न होने के साथ कर्ण उठा, कुरुपति सुयोधन, कृपाचार्य तथा गुरुपुत्र अश्वत्थामा के चरणों में प्रणाम किया। सुशासन का आलिंगन किया। वह तथा कुरुसेना प्रयाण के लिए त्वरित सन्नद्ध होने लगे।

इसी के समकाल पाण्डव-शिविर में महारथी इस चिन्ता में अब भी डूबे थे कि आज कर्ण से मुठभेड़ कौन करेगा ? द्रौपदी का हठ है कि आज अर्जुन ही कर्ण से युद्ध करें। इस बीच बड़े जनों का आदर करता हुआ सहमकर घटोत्कच बोल उठा, मुझे अधिक नहीं कहना है, मैं माता (हिडिम्बा) का आदेश पालन करने आया हूँ, मैं आज अकेले युद्ध में धनुर्धारी कर्ण से युद्ध कर उसका शीश काटूँगा। द्रौपदी ने उसे रोका, कहा, ''दानवेन्द्र बाला (हिडिम्बा) ने पुत्र-मोह छोड़कर पतिव्रत निभाने को तुम्हें युद्ध में भेजा है, उनका सतीधर्म धन्य है। वे मेरे लिए पूजनीय हैं। वे दानवी हैं, पर उनमें महान् मानवी धर्म है। तथा यहाँ अब मेरा भी धर्म है कि मैं उनकी धरोहर की रक्षा करूँ, इसलिए पुत्र ! तुम्हें रण में नहीं जाने दूँगी। अर्जुन ही आज कर्ण का सामना करेंगे।'' कृष्ण हँसे और बोले–''दैव की गति द्रौपदी के हठ या किसी के हठ से रुकनेवाली नहीं है, लेकिन सच बात यह है कि आज कर्ण विश्वविजयी है, युद्ध में दुर्निवार है, देवसेना-पति शक्तिधर (कार्तिकेय) या इन्द्र भी उसे युद्ध में नहीं रोक पाएँगे। मैंने सदा पाण्डवों को बलशाली बनाने की नीति का पालन किया। शत्रुओं ने उसे कूटनीति कहा। यादवों की सुधर्मा सभा में सारे यदुकुल ने कौरवों के पक्ष से युद्ध करने का निश्चय किया, लेकिन अकेला मैं पाण्डवों के पक्ष में रहा, क्योंकि मेरा संकल्प था, भारत से शक्ति का दम्भ समाप्त कर देना है। सत्य या नीति मैं उसे ही मानता हूँ, जिससे शत्रु बल-हीन हों, मित्र बलशाली बनें।'' कृष्ण के कहने का तात्पर्य था कि आज अर्जुन का युद्ध कर्ण से नहीं होना चाहिए। कृष्ण की बात सुनकर सभी तो मौन रहे, परन्तु भीम ने विरोध किया, कहा, ''वासुदेव, जिसे जीवन की कामना हो उसे युद्ध से रोको, कर्ण से बचाओ। मैं घटोत्कच को युद्ध में नहीं जाने दूँगा, उसकी वनवासिनी माता को असहाय नहीं होने दूँगा (तात्पर्य यह कि मैं ही युद्ध में जाऊँगा)।'' यह कहते हुए भीमसेन ने घटोत्कच को बाहुओं में लपेट लिया। घटोत्कच सारी बात को समझता था, उसने बाहुओं के बन्धन को छुड़ाया और बोला–''कृष्ण ! मैं आपके चरणों की कृपा से अब पिता की अवज्ञा करता हूँ। मैं धर्म का मर्म नहीं जानता। मैं माता की कामना को पूरा करूँगा। आज मैं कर्ण से युद्ध करूँगा और उसे मारूँगा।

गुरुजनों ने यदि मुझे रोका तो इनका प्रतिवाद करूँगा।" युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर वह निकल पड़ा। कवि का कथावस्तु के विन्यास का कौशल यह है कि उसने वहाँ कौरव-शिविर में कर्ण का सेनापति पद पर अभिषेक कराकर युद्ध में विजय के लिए प्रस्थान कराया और उसी के समकाल यहाँ पाण्डव-शिविर में घटोत्कच माता के आदेश-पालन के निमित्त कर्ण से युद्ध करने के लिए उद्यत हुआ।

इसके अनन्तर के चार सर्गों का नामकरण प्रकाशित महाकाव्य में नहीं है। सच बात यह है कि कवि ने इनका नामकरण किया था। जहाँ तक मुझे स्मरण है कि सर्गों की संज्ञाएँ मूल पाण्डुलिपि में होनी चाहिए। आगे के भी प्रत्येक सर्ग की कथावस्तु के विन्यास तथा रचना-कौशल का संक्षिप्त समीक्षण दिया जाता है—

सर्ग 6

कौरव पक्ष की सेना सन्नद्ध होकर युद्ध भूमि की ओर जा रही है। रथों, हाथियों, पदातियों के संघट्ट का तुमुल शोर है, अस्त्रों-शस्त्रों, तलत्र, पताकाओं आदि की चमक, महारथियों के शिर पर मुकुट और वक्ष में स्वर्ण के कवच बरवस दमक रहे हैं। महारथियों का समूह युद्ध की ओर प्रस्थान कर ही रहा है कि कुरुराज के सम्मुख अनुज सुशासन के युद्ध में न जाने की एक समस्या आ गयी। सुयोधन की पत्नी भानुमती उसे युद्ध में न जाने देने के लिए कृतसंकल्प है, किन्तु वह मान नहीं रहा है। हारकर उसकी पत्नी वासन्ती भी तब उसे नहीं रोकती। वंश डूबेगा या कि रहेगा, इस पर वासन्ती के ये उद्‌गार हृदय को छू लेते हैं—

गान्धारी सती जो सतीधर्म में धरा सी हैं
उनके चलाये भी न कुरुकुल जो चला
नरसिंह पुत्र एक गुल्म जिनके मरे।
और वह कुन्ती... (सर्ग 6)

वासन्ती अब सुशासन को युद्ध से नहीं रोकना चाहती। भानुमती का हठ सुयोधन को सताये जा रहा है। कर्ण तथा सुशासन दोनों को इस हठ के प्रति उपेक्षा और आक्रोश है। सुशासन कर्ण से कहता है कि अब हम शीघ्र कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में चलें, शत्रुपक्ष मतवाला होकर हर्षनाद कर रहा है। आकाश शंख-ध्वनियों से वैसे ही अनस्थिर है, जैसे प्रलयकाल में समुद्र होता है, हम अपने को नारी के मोह से उवारें, नारी महिमामयी हो, शक्ति हो, जो भी हो, वह ऐसी कुसुमित वल्लरी है, जिसमें भय, मोह, माया, अविवेक, अपवाद के फूल खिलते हैं—

टल रही वेला यह रण की अभागा मैं
कारण बना हूँ कुरुजन के विकर्ष का।

कुसुमित वल्लरी है नारी भय और मोह के
माया, अविवेक, अपवाद के सुमन जो
उसमें खिले हैं। (सर्ग 6)

सुयोधन ने भी इस प्रसंग को उपेक्षित किया और सेनापति कर्ण से युद्ध-भूमि में चलने के लिए सेना को निर्देश देने का आग्रह किया। कर्ण सेनापति के रूप में त्वरित प्रस्थान के लिए आतुर है, वह दैवगति को नहीं मानता, उसको पुरुषार्थ के बल पर भरोसा है। लेकिन ऊपर के प्रसंग में एक बात उसके हृदय को छू गई और रोष आ गया, जो वासन्ती ने गान्धारी को पृथिवी के समान अडिग सतीधर्म कहा तथा कुन्ती पर आक्षेप किया, अब तो भलीभाँति वह जानता है कि कुन्ती उसकी माता है। कवि ने ऐसे प्रसंग की उद्भावना कर, जो कहीं से कृत्रिम नहीं प्रतीत होता, रचना-विन्यास की निपुणता का परिचय दिया है, कर्ण ने सुयोधन से कहा—

क्रोध मुझे आया वन्धु ! अनुजवधू ने जो
पार्थ-जननी का नाम निन्दा अपयश की
मुद्रा में लिया था, क्या कहूँ मैं किस हेतु से
सह न सका मैं अपमान वीरमाता का
वीर सहते नहीं तुम भी सहोगे क्या ? (सर्ग 6)

यह कर्ण के अन्तर्मन की वाणी है, यहाँ वीरमाता कहने का अर्थ कर्ण की माता से है, कवि ने कथा-पात्र तथा उसके अन्तःकरण की अत्यंत सटीक अभिव्यक्ति की है।

युद्ध के लिए अधीर कर्ण आगे बढ़ा, जैसे ही शिविर-निवेश से बाहर हुआ, गुरुपुत्र अश्वत्थामा ने उसका साथ दिया, जो अपनी वीरता में दूसरा रुद्र था, क्रोध में वक्री ग्रह था, माथे पर टेढ़ा त्रिपुंड लगाये कर्ण से बोला—"वसुसेन ! शत्रुदल अपने सिंहनाद से पृथिवी और आकाश को हिला रहा है। भीमसेन का दानवी-पुत्र (घटोत्कच) पाण्डवपक्ष से तुमको रोकने के लिए चल पड़ा है।" कर्ण ने कहा, "विप्र ! मैं तुम्हारी कृपा से निर्भय हूँ। आकाश में भास्कर के रहते तमीचर (दानव) मुझसे क्या युद्ध करेगा। किन्तु तो भी इसकी चिन्ता है कि शत्रु समर-नीति से युद्ध नहीं कर रहे हैं, उनका लक्ष्य विजय है, साधन जो भी हो, ऐसे ही उन्होंने देवव्रत भीष्म और गुरु द्रोण पर विजय प्राप्त की है, कृष्ण धर्म-नीति का अर्थ अपने अनुकूल बनाते-बिगाड़ते रहते हैं। अतः हो सकता है कि धर्म और नीति के विपरीत अपने स्वार्थ-हित में कृष्ण ने यह जाल रचा हो, क्योंकि अब तक हममें से किसी ने भीमसेन के दानवी-पुत्र को नहीं देखा है। तो भी, जैसा हो, युद्ध में मैं उसका निवारण करूँगा। गुरुपुत्र विप्र, वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता, यदि मैं कृष्ण से बचा रहा—

कृष्ण से वचा जो विप्र उससे वचूँगा मैं। (सर्ग 6)

कर्ण के धनुष का नाम कालपृष्ठ है। हाथ में कालपृष्ठ को लेकर, सुयोधन को उसके अनुज सुशासन की रक्षा का आश्वासन देते हुए कर्ण ने युद्ध-भूमि की ओर प्रस्थान किया।

सर्ग 7-8

इन दोनों सर्गों में कर्ण के सेनापतित्व में होनेवाले प्रथम दिन के भीषण युद्ध का वर्णन है। दोनों सर्ग युद्ध की रोमांचकारी तथा क्षण-क्षण घटित होनेवाली उत्साह-वर्धक, दारुण, दिल दहला देनेवाली और चकित कर देनेवाली घटनाओं से भरे हैं। अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार, रथों के संघट्ट, हाथियों की चिग्घाड़, घोड़ों के पदचाप की धूलि से घिरता आकाश, चमकते आयुधों से विद्युत का भ्रम इन सर्गों का प्रकृत चित्रण है। तथा इस समर-भूमि के ऐसे दुर्दिन वातचक्र में कहीं न कहीं कुरुराज्य की राज्यलक्ष्मी विचर रही है, वह वीरों के दुर्लभ पराक्रम का दर्शन करती है तथा कुछ क्षणों के लिए शान्ति-हेतु कवि की वाणी में भी समाहित हो जाती है।

सेनापति कर्ण ने केवल दो दिन युद्ध किया, दूसरे दिन वह कृष्ण की कूटनीति से अर्जुन द्वारा मारा गया। तथा कौरव-पक्ष की हार हो गयी। महाकाव्य अधूरा है, दूसरे दिन की घटनाओं का वर्णन कवि पूरा नहीं कर पाया।

प्रथम दिन के युद्ध में तीन प्रमुख घटनाएँ हैं—अश्वत्थामा का आश्चर्यकारी पराक्रम, कर्ण द्वारा घटोत्कच का वध तथा भीमसेन द्वारा सुशासन का मारा जाना। सर्ग 7 में केवल अश्वत्थामा के युद्ध का वर्णन है। शेष दो घटनाएँ सर्ग 8 में हैं। घटनाओं का संक्षिप्त वृत्त इस प्रकार है—

सर्ग 7

युद्ध आरम्भ है। सुयोधन ने द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा की पूजा की, यह पूजा ऐसी ही थी, जैसे देवासुर संग्राम में देवपति ने देवगुरु बृहस्पति की पूजा की थी। सुयोधन वेद-विधि से युद्ध में विजय चाहता है। इसके अनन्तर कवि ने प्रतिमान बदल दिया, कहता है जैसे विशाल रथ पर इन्द्र धनपति-कुबेर का हाथ पकड़ कर चढ़ा था, वैसे ही वसुसेन कर्ण का सहारा लेकर गुरुपुत्र अश्वत्थामा रथ पर चढ़ा। सेनापति से निदेश पाकर उसने युद्ध आरम्भ कर दिया।

कवियों के गुरु महर्षि व्यास ने भारत-युद्ध की उपमा देवासुर-संग्राम से दी है। यह युद्ध ऐसा ही भयानक और रोमांचक था। देव और असुर दोनों एक ही

ऋषि कश्यप की सन्तान थे। स्वर्ग और धरती के बँटवारे को लेकर उनका भयानक युद्ध हुआ था, जिसकी कुछ वर्णनात्मक छवि पुराणों में विद्यमान है। उसका ऐसा सम्पूर्ण विशद् वर्णन सुरक्षित नहीं रह गया, जैसा कि जयकाव्य में ऋषि व्यास के द्वारा कौरवों-पाण्डवों के युद्ध का जीता-जागता समग्र चित्र ज्यों का त्यों विद्यमान है। *कालजयी* का कवि व्यास नहीं है, तो भी उसने एक अद्‍भुत उपमा इस युद्ध के प्रसंग में दी है—

घर्षण में जिनके दिगन्त अग्निजाल में
आवृत बना हो। विपरीत गतिवाले दो
नद या कि पर्वत परस्पर भिड़े हों ज्यों,
कुरु-पाण्डवों की मिली वाहिनी, समुद्र से
सिन्धु और ब्रह्मपुत्र जैसे मिले बढ़ के।

यह उपमा बड़ी सटीक है। कौरव और पाण्डव एक ही कुल के हैं, कुरुक्षेत्र के महासागर में दोनों ने विपरीतगामी शत्रु बन टक्कर ली, अन्त में महासमर में दोनों कुल निःशेष हो गये। उसी प्रकार सिन्धु और ब्रह्मपुत्र नदियाँ दोनों ही हिमालय के एक ही मानसरोवर से उद्‍भूत हुई हैं, विपरीत दिशाओं से आकर भारत-समुद्र में विलीन हो जाती हैं। कुरु-पाण्डव-सेना की उपमा सिन्धु-ब्रह्मपुत्र नदियों से देकर कवि ने कथावस्तु के भूत, वर्तमान तथा भविष्य का रेखाचित्र खींच दिया है।

अश्वत्थामा की पहली मुठभेड़ भीमसेन से हो गयी। भीम उसी समय कौरव महारथी क्षेमधूर्ति को मारकर उन्मत्त हो रहा था। अभी कल ही भीम ने अश्वत्थामा के झूठे मारे जाने का कोलाहल मचाया था, जो आचार्य द्रोण की मृत्यु का कारण बना। गुरुपुत्र ने बाणों की अमोघ वर्षा की, ध्वजा, कवच, किरीट, धनुष को काटकर रथ के घोड़ों को मार डाला। भीम गदा लेकर रथ से कूद पड़ा। गुरु-पुत्र ने गदा भी काट दी तथा बाहुमूल में ऐसा बाण मारा कि भीम पृथ्वी पर गिरकर लोटने लगा। तब तक भीम की रक्षा में अर्जुन का रथ लेकर कृष्ण पहुँच गये। भीम की रक्षा हो गयी, सारथी दूसरा रथ लेकर आया, कृष्ण ने भीम को वहाँ से चले जाने का निदेश दिया।

गुरुपुत्र की दूसरी लड़ाई पाण्डव पक्ष के रथी मलयध्वज से हुई। गुरुपुत्र धृष्टद्युम्न की खोज में आगे बढ़ रहा था कि मलयध्वज ने उसको रोका। गुरुपुत्र ने उसको मना किया, मुझसे युद्ध न करो, अभी तुम किशोर से युवा हो रहे हो, तुम बालमृग हो सिंह की गुफा में न आओ। मलयध्वज ने कहा—"विप्र ! योद्धा किसी वीर की अवस्था नहीं, उसका तेज देखते हैं। तुमको मैं अभी अपना वीर तेज दिखाता हूँ।" दोनों अपने-अपने अस्त्रों का प्रयोग करने लगे। अन्त में शीघ्र ही

गुरुपुत्र ने सात बाण एक ही साथ सन्धान किये, बाणों से मलयध्वज के कवच, किरीट, धनुष, पताका, रथ, सारथी काट डाले और सातवाँ बाण दसवीं गति में तेजी से आग बरसाता हुआ मलयध्वज का शिर काटकर आकाश की ओर निकल गया।

मलयध्वज की मृत्यु से गुरुपुत्र का हृदय संवेदना से भर गया। क्षण भर चिन्ता कर वह वायुवेग से आगे बढ़ा, धृष्टद्युम्न के सामने पहुँच गया, जहाँ पाण्डव-रथी रक्षा का घेरा बनाये खड़े थे। गुरुपुत्र को जाता देखकर कृष्ण ने अर्जुन को सावधान किया कि गुरुपुत्र का धृष्टद्युम्न से युद्ध होने जा रहा है, धृष्टद्युम्न की रक्षा करनी होगी। अर्जुन ने कहा, आज गुरुपुत्र को रोकना असम्भव सा लग रहा है, वह दूसरा त्रिपुरारि दिख रहा है। कृष्ण ने कहा, यह सत्य है और सामने से युद्ध कर गुरुपुत्र को रोका नहीं जा सकता, लेकिन तुमको शस्त्र-युक्ति से द्रुपद-तनय की रक्षा करनी होगी।

गुरुपुत्र के सामने युधिष्ठिर आ गये। युधिष्ठिर ने कहा—हम सब का वध कर के ही धृष्टद्युम्न को मार सकते हो। हम सभी पाण्डव-रथी वासुदेव के निदेश से उसकी रक्षा में लगे हैं। फिर युधिष्ठिर, सात्यकि, नकुल, सहदेव आदि कई पाण्डव महारथियों के साथ गुरुपुत्र को जूझना पड़ा। अन्त में वह शत्रुपक्ष को विदीर्ण करने में समर्थ हो गया। धृष्टद्युम्न को पकड़ने के लिए आगे बढ़ा। धृष्टद्युम्न रथ लेकर भागा। गुरुपुत्र ने अपने रथ को वक्रगति से घुमाकर बाणों की वर्षा की, उसके रथ को भग्न कर दिया। निमेष में गुरुपुत्र ने धृष्टद्युम्न को, उसका केश पकड़कर खींच लिया और उसका शिर काटने के लिए तलवार निकाल ली, तलवार प्रहार के लिए ऊपर उठी, तब तक दूर पीछे से कृष्ण की सलाह से अर्जुन ने बाण चलाकर गुरुपुत्र की तलवार काट दी। गुरुपुत्र ने उधर देखा, जिस ओर से बाण आया था, विराग और घृणा में उत्तर दिया—धर्म-नीति जग से मिटाने के लिए ही तो कृष्ण ने जन्म लिया है। धृष्टद्युम्न के शिर पर लात मारकर उसे छोड़ दिया। इतने युद्ध के बाद मध्याह्न हो गया।

सर्ग 8

मध्याह्नोत्तर युद्ध का वर्णन आठवें सर्ग में है। अपराह्न के युद्ध में घटोत्कच और सुशासन दोनों ने वीरगति प्राप्त की। कौरव पक्ष की हार निश्चित हो गयी। कर्ण उदास था, पर अब भी अपनी विजय के प्रति विश्वस्त था।

वासन्ती से विदा होकर सुशासन युद्धभूमि में आया। पत्नी वासन्ती द्वारा युद्ध के लिए पति की विदाई दिखाकर कवि ने भावी घट्यमान घटना की संवेदना को उसकी पवित्रता, दारुणता और गहराई को बहुत चटक कर दिया है। कुरुराज

सुयोधन मध्याह्न के अनन्तर कर्ण से मिलकर भाई सुशासन की रक्षा के प्रति चिन्ता व्यक्त करता है, वहीं गुरुपुत्र भी हैं। सुयोधन कहता है, "स्पष्ट है, दैव हमारे विपरीत है, अन्यथा हाथ में धृष्टद्युम्न को पकड़कर भी गुरुपुत्र उसके शिर में लात मारकर क्यों छोड़ देते। लगता है विपरीत दैवगति में कुरु-सेना और कुरुवंश दोनों डूब जाएँगे।" कर्ण कहता है, "जो बीता उसे छोड़ो, युद्ध की तात्कालिक सूचना दो, अर्जुन कहाँ है ? भीम का दानव-तनय कहाँ है ?"

उधर भीम-पुत्र घटोत्कच ने कुरुसेना का संहार आरम्भ कर दिया। कृष्ण किसी प्रकार भी अर्जुन को कर्ण के सामने नहीं आने देना चाहते थे। अर्जुन का युद्ध कृतवर्मा से हो रहा था, कर्ण का रथ उस ओर बढ़ा। कृतवर्मा ने कहा, "कृष्ण ! जिससे भागते रहे हो, वह नरसिंह कर्ण आ गया। उससे युद्ध करो।" कृष्ण ने कहा–तो सीधे कहो कि तुम युद्ध विमुख हो रहे हो, पीठ दिखा रहे हो। अर्जुन ने भी कृतवर्मा को चुनौती दी। कर्ण के न चाहने पर भी अर्जुन से कृतवर्मा का युद्ध होता रहा। जब तक कर्ण आगे बढ़कर अर्जुन से युद्ध करे कि युद्ध-भूमि के उत्तरी भाग में धूलि से अन्धकार छा गया। दिन में रात्रि दीखने लगी। कुरुसेना आर्तनाद करने लगी। घटोत्कच ने कुरुपक्ष के राक्षस-वीर अलम्बुष को पराजित कर दिया था। घटोत्कच के बाणों से आग की वर्षा हो रही थी। कुरुराज सुयोधन ने गुरुपुत्र से घटोत्कच को रोकने के लिए अविलम्ब आगे बढ़ने को कहा। गुरुपुत्र का रथ घटोत्कच के सामने हुआ। विक्रम से प्रदीप्त गुरुपुत्र को देखकर घटोत्कच ने प्रश्न किया–

"...बताओ तुम्हीं कर्ण हो ?
बोलो, रण-लालसा तुम्हारी अभी मेटके
अभय करूँ, मैं जननी को पितृ कुल को।" (सर्ग ८)

गुरुपुत्र ने उत्तर दिया–

"...मानव रथी सदा
दानव से रहते, विरत् हीन जन्मा से
परिचय की विधि नहीं। रक्त से तुम्हारे जो
धरती को तुष्ट करे जानो वही कर्ण है।"

कुछ क्षणों तक घटोत्कच गुरुपुत्र से युद्ध करता रहा। तब तक भीमसेन आगे बढ़े, उन्होंने उससे कहा–"पुत्र ! ब्राह्मण से युद्ध करना छोड़ दो। आगे कुरुराज का रथ जा रहा है, उधर बढ़ो। तुम युद्ध में विश्वजयी हो, अजेय हो तुमको कौन रोक पायेगा।"

घटोत्कच कुरुराज की ओर बढ़ा। यह देखकर कुरुसेना में आर्तनाद होने

लगा। कुरुराज को संकट में देखकर सुशासन, कर्ण सभी वेग से कुरुराज की रक्षा के लिए बढ़े। कर्ण के चमकते बाण घटोत्कच के शरीर में ऐसे समा गये, जैसे सूर्य की चमकती किरणें नीलगिरि पहाड़ में। घटोत्कच के सिंहनाद से युद्ध-भूमि काँप रही थी। घटोत्कच ने बढ़कर कुरुराज का रथ पकड़ लिया, कुरुसेना में हाहाकार मच गया, तत्काल उसी क्षण कुरुराज की रक्षा के लिए कर्ण ने अपने कालपृष्ठ धनुष पर इन्द्र की दी हुई अमोघ शक्ति का सन्धान किया। उस शक्ति के प्रहार से घटोत्कच का प्राणान्त हो गया। पाण्डव-दल शोक में डूब गया। कर्ण भीतर ही भीतर निष्प्रभ हो गया। कृष्ण ने अर्जुन की सुरक्षा हो जाने से प्रसन्नता का अनुभव किया और शोक में मग्न भीम से कहा—रोने के लिए अभी आयु है, यदि सामर्थ्य है, तो पुत्र-घात का बदला चुकाओ।

बदला लेने के लिए रोष में तमतमाये भीम ने बड़े वेग से सुशासन पर आक्रमण किया। भीम की रक्षा में अर्जुन का रथ लिये कृष्ण आगे बढ़े, उधर दूसरी ओर से कर्ण और स्वयं कुरुराज भी सुशासन की रक्षा में थे, किन्तु द्वैरथ युद्ध में भीम ने सुशासन की धनुष, किरीट, कवच, केतु काट डाले तथा रथ से उतर कर गदा-युद्ध करने लगा। भीम की गदा का तेज घात सुशासन के शिर पर लगा और वह धरती पर गिर पड़ा। भीम ने उसकी छाती विदीर्ण कर दी, वक्ष से निकलते रक्त को अंजलि में भरकर पीने के लिए अपने होंठों से लगा लिया। इस घोर कर्म को देखकर चारों ओर 'हाय ! हाय !' के स्वर गूँजने लगे। सुशासन की मृत्यु हो गयी। कवि भीम के इस घोर कर्म से दुःखी है, उसके उद्गार हैं—

क्रोध वश मनुज दनुज बन जाता है।
देवता भी होता वही शील में विनय में।
मानव को खोजती रही है कवि-वाणी जो
युग-युग से पाया नहीं उसने अभी जिसे।
देवता मिला है कहीं, दानव मिला है कहीं,
किन्तु इन दोनों से बना जो मनु-पुत्र है,
कवि-कल्पना का मानदंड, किसी दिन क्या
वाणी को मिलेगा ? (सर्ग 8)

कवि कहता है कि भीम ने यह दानवी कर्म किया, जो अपने शत्रु का रक्त-पान किया और उस रक्त को अंजलि में भर कर द्रौपदी की वेणी सँवारने के लिए चल पड़ा। वीर-धर्म तो सराहनीय है, लेकिन शत्रु की पराजय के बाद रक्तपान यह दानवी कर्म है। शत्रुता शत्रु के जीवित रहते तक ही रहती है। कवि का यह कथन इतिहास के पृष्ठों से भी सत्य प्रमाणित होता है। मुसलिम आक्रान्ताओं

में—अलाउद्दीन खिलज़ी, बाबर, शेरशाह सूरी आदि ने भी अपनी जीत के बाद ऐसे दानवी कर्म किये हैं। कवि की कल्पना में एक शीर्ष पर देवता हैं, तो दूसरे अधःछोर पर दानव हैं। इन दोनों के संयोग से, शील और वीरता के धर्म से सम्भृत मनु-पुत्र मानव ही कवि की कल्पना में निर्मल चरित का मानदंड है। कवि की वाणी उसे पाने की आशा में है।

सुशासन की मृत्यु के बाद कौरव महारथी रथ पर बैठे-बैठे अचेत हो गये, उनकी आँखें मुँद गयीं। सेनापति कर्ण भूतल पर बैठ गया, उसके कंठ से अर्थ-हीन वाणी निकल रही थी। सूर्य डूबने को था। युद्ध बन्द हो गया।

सर्ग 9

नवम सर्ग का कथानक कवि की कल्पना पर आधारित है। महाभारत के घटनाक्रम से इसका सम्बन्ध नहीं। कवि लिखता है कि सुशासन की युद्ध में वीरगति हो जाने के बाद पत्नी वासन्ती ने पति के शरीर के साथ चिता की अग्नि में सती हो जाने का निश्चय कर लिया। अभी युद्ध शेष है तथा सेनापति अंगराज कर्ण का पराक्रम अशेष है, लेकिन वह कुछ प्रतीक्षा नहीं करेगी। सुयोधन की पत्नी भानुमती उसे गोद में भर लेना चाहती है, पर वह काँपकर गिर पड़ती है, इस लोक में उसे आकाश, नक्षत्र लोक, ध्रुवलोक सभी काँपतें नज़र आते हैं। चारों ओर वेदना की ज्वाला जल रही है। ब्रह्माण्ड धधक रहा है। प्रलय की वेला है, जल, थल, व्योम में रुद्र का रोष गूँज रहा है।

अधूरा महाकाव्य

बस यहीं काव्य का सृजन अवरुद्ध हो जाता है। क्यों ? इसे स्वयं कवि ने बड़े दुःख के साथ निवेदन किया है—

> **घोर अन्धकार सब ओर अन्धकार में**
> **भारत है डूबा, राष्ट्र जन के ही हाथ से**
> **राष्ट्र के पिता हैं मरे, बन्दी बना पापी है।**
> **मोहन का दास और चन्द्र कर्म का जो था**
> **विग्रह बना जो रहा सत्य का, अहिंसा का**
> **हत हुआ हाय, वही हिंसा से, असत्य से**
> **काल गति लाँघने की शक्ति नहीं कवि में।**

यह 30 जनवरी 1948 की बात है। उसके बाद महाकाव्य में एक पांक्ति भी नहीं लिखी गयी। नवम सर्ग का कथानक कवि ने भारतीय वीरधर्म तथा नारी के

सती-धर्म की प्रशस्ति के लिए कल्पित किया, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। महाभारत की कथा में बहुत स्पष्ट है कि पूरा भारत-युद्ध बीत जाने के बाद युद्ध में हत हुए कुल के तथा सम्बन्धियों के ऊर्ध्व दैहिक कर्म सम्पन्न किये गये थे। युद्ध के मध्य सुशासन की पत्नी के सती होने का उपक्रम हो नहीं सकता था।

महाकाव्य अधूरा रह गया। पैंतीस वर्ष के बाद, जैसा कि कवि लिखता है, उसने पुनः वाणी से प्रार्थना की कि वह इस महाकाव्य को पूरा करने में कवि को प्रवृत्त करें। वह यह भी शिकायत करता है कि इस कवि के लिए तू मौन हो गयी। पर दूसरे कवियों ने महात्मा गाँधी की दारुण हत्या का काव्य-प्रबन्ध लिखकर राज-सत्ता से धन तथा सम्मान प्राप्त किया है—

वाणी अरी कवि की न मौन अब तू रहे
बीते वर्ष पैंतिस तू मौन जब से बनी
कवियों ने धन, मान पाया राजसत्ता से
लेखनी चलाके इस दारुण कुकर्म पै।
गाँधी भक्त थे वे नहीं, धन और मान के
दास वे अभागे कवि-कर्म के कलंक थे।

इसके आगे भी कवि ने वर्तमान हिन्दी-कवियों के रचना-धर्म की आलोचना की है। नवम सर्ग के ये अन्तिम चार पृष्ठ सम्भवतः 1983 में लिखे गये। नवम सर्ग पूरा नहीं हुआ। तथा महाकाव्य के अन्तिम दो सर्ग 10 तथा 11 तो कल्पना में रह गये, जिनमें कर्ण का अपराजेय पराक्रम, उसके उदात्त चरित, वीरधर्म तथा शील का वर्णन कवि को करना था। 19 अगस्त 1987 को वाराणसी में कवि की मृत्यु हो गयी। महाकाव्य अधूरा ही रह गया। अधूरे महाकाव्य का प्रकाशन हुआ।

यह अधूरा महाकाव्य भी अपने काव्य-सौष्ठव, प्रसन्न गम्भीर भाषा तथा भाव-समुद्र में डुवो देनेवाले कथानक-घटना-क्रमों के कारण अच्छे से अच्छे सभी काव्य-प्रबन्धों को पीछे छोड़ देता है। संस्कृत के महाकवि बाण के दोनों गद्य-प्रबन्ध *हर्षचरित* और *कादम्बरी* अधूरे ही हैं, पर उनकी बराबरी कोई कथा-प्रबन्ध नहीं करता है। इस महाकाव्य को सन् 1956 में किताब महल, इलाहाबाद ने केवल पाँच सर्ग तक *सेनापति कर्ण* नाम से छापा था। तभी से इसकी व्यापक चर्चा हिन्दी के महाकाव्यों में होने लगी। कवि मिश्र जी ने आगे किताब महल को इस काव्य-प्रबन्ध को छापने से रोक दिया। उनका विचार था कि महाकाव्य पूरा हो जाने के बाद ही छपेगा। किन्तु जैसा कि कवि ने अपने महाकाव्य में दैवगति की दुहाई बार-बार दी है। उसी दैवगति ने कदाचित् इस महाकाव्य को पूरा नहीं होने

दिया, न ही कवि के जीवनकाल में इसे प्रकाशित होने दिया। अब उनके न रहने के बाद उनकी रचनावली के प्रथम भाग के रूप में इस महाकाव्य का प्रकाशन *कालजयी* नाम से हुआ है। महाकाव्य के साथ उनका गीत मुक्तक काव्य *अन्तर्जगत्* भी है।

महाकाव्य की कसौटी

इस महाकाव्य का ऐसा क्या वैशिष्ट्य है, जो बरबस पाठक को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस सम्बन्ध में ऊपर प्रसन्न गम्भीर भाषा, कथा के घटनाक्रमों में उमड़ते भाव-समुद्र तथा रस-भाव और अलंकृत उक्तियों के निरन्तर प्रयोगों के बीच उल्लसित काव्य-सौष्ठव की चर्चा की गयी है। संस्कृत के आचार्यों ने, विशेष रूप से दण्डी और भामह ने महाकाव्य की जो परिभाषाएँ की हैं, उनमें प्राकृत-संस्कृत के अलंकृत महाकाव्यों के रचना-विधान का प्रतिनिधित्व देखने को मिलता है, विशेष रूप से *सेतुबन्ध, रघुवंश, कुमारसम्भव, नैषधीय चरित* जैसे महाकाव्यों का उदात्त स्वरूप उन परिभाषाओं की सार्थकता प्रकट करता है। अर्थात् अलंकृत महाकाव्य की सत्ता का और उसके रचे जाने का औचित्य है। किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि न तो कविता की कोई परिभाषा की जा सकती है और न ही महाकाव्य रचे जाने के विधान बताये जा सकते हैं। प्रत्येक कवि अपनी रचना में नूतन होता है। किसी परिभाषा में उसे बाँधा नहीं जा सकता, उसी प्रकार समर्थ कवि के महाकाव्य का अपना अलग रचना-विधान होता है। उसके स्वरूप की अपनी नवीनता होती है, यह बात ऊपर के उक्त संस्कृत के महाकाव्यों में देखी जा सकती है। *किरातार्जुनीय* और *शिशुपाल-वध*—संस्कृत महाकाव्यों का कृतित्व वैसा उदात्त नहीं है, उनमें आचार्यों की दी गयी परिभाषा का अभिज्ञान ही प्रधान है। कालिदास के महाकाव्यों की रचना में कवि का अपना अभिज्ञान है, उनके कथानक का प्रकृत प्रवाह और प्रकृत सौन्दर्य है। कवि मिश्र जी के *कालजयी* महाकाव्य का कथानक भी घटनाओं के स्वाभाविक (प्रकृत) प्रवाह में उमड़ते निर्मल भाव-समुद्र का दृश्य उपस्थित करता है। नाटकीय घटनाक्रम और संवाद इस महाकाव्य की अपनी विशेषता हैं, जो प्रकरण-वक्रता से महाकाव्य को उल्लसित कर देते हैं। रचना की यही सरणि कालिदास के महाकाव्यों में पायी जाती है।

कालजयी की कुल कथा ढाई दिन की है, जितना कुछ लिखा गया है, उसमें प्रायः डेढ़ दिन की कथा आ गयी है। इतनी अल्प अवधि की कथा में कवि ने नाटकीय ढंग से विन्यस्त घटनाओं में तथा संवादों के माध्यम से महर्षि व्यास के सम्पूर्ण महाभारत की प्रतिच्छवि प्रस्तुत कर दी है। पहले के पाँच सर्ग इस दृष्टि से

महत्त्वपूर्ण हैं। कथा का आरम्भ भारत-युद्ध के बीच से होता है, जब आचार्य द्रोण छल से मारे जाते हैं और अब यह पूर्ण रूप से निश्चित हो गया था कि सुयोधन की विजय के लिए कर्ण को कुरुसेना का सेनापतित्व करना होगा। एक प्रहर की घटना पर एक सर्ग लिखा गया है और प्रत्येक सर्ग के दो भाग हैं। एक भाग में कौरव-पक्ष की घटना का काव्य-निबन्धन है, दूसरे भाग में पाण्डव-पक्ष की घटना का या और किसी घटना का। दोनों पक्षों की घटनाएँ समकाल में घटित हो रही हैं, इसलिए वे एक सर्ग में ही निबद्ध हैं। सर्गों के अनुसार घटनाओं के संयोजन और विन्यास का परिचय पीछे दिया जा चुका है। संवादों में पूर्वदीप्ति की पद्धति से महाभारत के घटित अनेक घटनाक्रम आये हैं।

पहले सर्ग-मन्त्रणा में सुयोधन द्वारा पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में अनीति से शिशुपाल-वध का वर्णन तथा द्वारका में युद्ध के लिए सहायता माँगने पर कृष्ण की कूटनीति और बलराम द्वारा उसे अमान्य करने की महत्त्वपूर्ण बात का विवरण—इस सर्ग में महाकाव्य की कथा के मुख्य अंश हैं। जब कौरव-पक्ष शोक तथा मन्त्रणा में निमग्न था, उसी समय भीम के पौण्ड्र शंख की बड़ी ऊँची ध्वनि हुई, जिसको सुनकर गुरुपुत्र अश्वत्थामा और कर्ण प्रतिकार करने के लिए युद्ध के उत्साह में आ गये। यह पहले सर्ग के कथा-विन्यास का उदाहरण है। आगे के सर्गों में कवि ने अपने कथा-विन्यास को और भी अधिक मार्मिक तथा प्रभावकारी बनाया है।

महाकाव्य की रचना के दो प्रकृत लक्षण हैं, जो प्रत्येक युग के महाकाव्य में पाये जाएँगे। पहला लक्षण उसकी उदात्त अथवा विराट् कथा है। कथा का उदात्त या विराट् होना, उस कथा के केन्द्र अथवा उसकी घटनाओं के नेता—नायक के महान् चरित पर निर्भर है, इस प्रकरण में महान् चरित की भी परिभाषा है—जो नीति, न्याय और मानवता का पक्षधर है, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ाई लड़ता है, शौर्य-साहस और करुणा की असीम शक्ति जिसमें है, वह महान् चरित है। यदि ऐसा महान् चरित नहीं है, तो महाकाव्य की रचना नहीं हो सकती है, आचार्य भामह ने महाकाव्य की परिभाषा कुछ इस प्रकार से ही की है—

सर्गवन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।। (*काव्यालंकार* 1/19-21)

अर्थात् सर्गबन्ध रचना महाकाव्य है, जो महान् के महान् चरित का आख्यान होता है। लोक-जीवन के स्वाभाविक चित्रण तथा पृथक्-पृथक् सभी रसों-भावों का समावेश उसमें रहता है।

महाकाव्य का दूसरा प्रकृत लक्षण है, उसका लोकरंजक होना। लोकरंजक होने की विशेषता उसमें तब आती है, जब उसकी कथा में मर्म को छूने वाले

जीवन के सुख, दुःख, राग, नीति, धर्म, अनाचार के प्रति रोष, करुणा, मैत्री आदि के जीवन्त स्थल हों, जिनसे भाव की धारा उमड़ पड़ती हो, आदि से अन्त तक कथारस विद्यमान हो, अर्थात् कथा-प्रवाह में रस-भाव की निरन्तरता (समग्र उपस्थिति) बनी रहे। कथावस्तु के ऐसे प्रस्तुतीकरण के लिए कवि की अलंकृत उक्तियाँ उसमें सहायक बनती हैं। तभी उन उक्तियों में प्रस्फुटित होकर काव्य का सौन्दर्य पाठक के हृदय में छा जाता है। अलंकृत उक्तियाँ वस्तु-सौन्दर्य के प्रकट होने का उदयाचल हैं। ऐसा महाकाव्य लोक-जीवन के बीच अमर हो जाता है। आचार्य दण्डी की परिभाषा में महाकाव्य के इस प्रकृत लक्षण की ओर इंगित किया गया है—

अलंकृतमसंक्षिप्तं रस भाव निरन्तरम्।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति।। (काव्यादर्श 1/18-19)

अर्थात् महाकाव्य अलंकृत हो, कथा में विस्तार लिये हुए हो, उसमें रस-भाव की विद्यमानता आदि से अन्त कहो, सर्वत्र विभिन्न घटनाक्रमों से युक्त होकर लोक-मन का रंजन करनेवाला हो। अलंकृत उक्तियों का सद्भाव उसका विशिष्ट पक्ष है। ऐसा काव्य कल्प तक का जीवन प्राप्त करता है, सदा पढ़ा-सुना जाता है, अमर होता है।

कालजयी गुण और आकार दोनों में बड़ा काव्य-प्रबन्ध है। 29 पंक्तियों के 335 पृष्ठ इस अधूरे महाकाव्य में हैं, पन्द्रह अक्षर के अतुकान्त मनहरण छन्द में इसकी रचना हुई है। गुणवत्ता की दृष्टि से महाकाव्य के दोनों प्रकृत लक्षणों से यह भरपूर है। अन्य दूसरे लक्षणों का तो कुछ कहना ही नहीं है, इसमें आदि से अन्त तक कथा-रस तथा रस-भाव की धारा पाठक के मन को अपने में विलीन करती जाती है। मन का ऐसा कोई भाव न होगा, जिसके चित्र इस काव्य में न हों। नवों रसों की सहज अभिव्यक्ति के अनेक प्रसंग हैं। दसवें वात्सल्य रस की लुभावनी भावधारा घटोत्कच के बाल-सुलभ कार्यों और कल्पनाओं में प्रवाहित होती है। कथा के विभिन्न घटनाक्रमों में विविध अलंकृत उक्तियों से युक्त कवि की प्रसन्न-वाणी भारतीय जीवन के आचार, धर्म के मानवीय संस्कार, दैव तथा पौरुष, त्याग तथा करुणा, नीति और कूटनीति के द्वन्द्व का आचरित आख्यान करती है, केवल उपदेश नहीं देती है।

जहाँ तक पहले प्रकृत लक्षण का सम्बन्ध है कि महान् का महान् चरित ही महाकाव्य की रचना का विषय है। यह प्रकृत लक्षण तो *कालजयी* महाकाव्य का मूल आधार है। महाभारत के विराट् कथाक्रम में कई महान् चरित हैं, जो लोकोत्तर हैं—पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, भगवान् कृष्ण, युधिष्ठिर धर्मराज, अजेय गुरुपुत्र

अश्वत्थामा, गान्धारी, राजमाता कुन्ती। इन लोकोत्तर चरितों के साथ कर्ण महाभारत का लोक-दुर्लभ चरित है। पीछे अध्याय के आरम्भ में उसका संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है, वह विग्रहवान् मित्रधर्म है, नीतिकारों ने मित्र की प्राप्ति को राजा के लिए दूसरा महान् विभव कहा है, पहला विभव पृथिवी है (कामन्दक नीति-सार), कर्ण सुयोधन का ऐसा ही मित्र है। वह उसका महान् विभव है। कर्ण ने मित्र के प्रति आदर रखकर राज्य का लोभ नहीं किया। वह महान् मित्र है, महान् वीर है, धर्म तथा त्याग के प्रति समर्पित है। कुन्ती को माता जानकर उसके प्रति श्रद्धा तथा सम्मान की कमी नहीं रखता। वह युधिष्ठिर से महान् है। विजय और राज्य के लोभ में गुरु द्रोण की मृत्यु को सुगम करने के लिए युधिष्ठिर झूठ बोल गये, लेकिन कर्ण ने सत्य और धर्म का अतिक्रमण नहीं किया। *जयकाव्य* की रचना महर्षि व्यास ने की है। वे कृष्ण और पाण्डवों के प्रति सद्भाव रखते थे, उन्होंने भी कर्ण के चरित को निर्मल कहा है।

भगवान् कृष्ण इस *महाभारत* के केन्द्र में हैं, वे अनेक घटनाओं के सूत्रधार हैं। वे दुरभिमानी क्षत्रियों के विनाश के लिए कृत-संकल्प हैं तथा इस संकल्प की सिद्धि में नीति-अनीति सभी माध्यमों को अपनाते हैं। पर कर्ण ने सदैव नीति और वीरधर्म का पालन किया। ऐसा महान् चरित इस महाकाव्य का नायक है और इसके कवि ने उसकी महानता को उस रूप में अंकित किया है। कर्ण के चरित को लेकर इसी समकाल में हिन्दी में अन्य प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये हैं पर *कालजयी* की रचना का संकल्प महान् है, वह अपने रचना-धर्म में राष्ट्र और जाति की समग्र चेतना को समाहित किये है। इसको पढ़ने से यह लगता है कि इसकी रचना हिमालय और विन्ध्याचल की धरती में हुई है, कुरुक्षेत्र को सींचकर प्रवाहित होती गंगा-यमुना नदियों के देश में हुई है। इसमें हम भारतवर्ष, उसके भूमिखंड और उसमें जिये जाते जीवन का दर्शन कर सकते हैं। यह इस देश का महाकाव्य है। इस देश का जीवन जीनेवाले कवि की रचना है।

कवि मिश्र जी ने महाकाव्य के कुछ घटना-क्रमों को अपने अनुसार विन्यस्त कर लिया है। क्योंकि महाकाव्य की घटनाओं की अवधि ढाई दिन की है, इसमें युद्ध-काल की ऐसी कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ नहीं आ सकती थीं, जिनके चित्रण के बिना महाकाव्य अधूरा रह जाता। ऐसी दो घटनाएँ हैं—(1) रात्रि में युद्धभूमि में पितामह भीष्म की शरशय्या के पास राजमाता कुन्ती से कर्ण की भेंट। (2) घटोत्कच का युद्ध। कर्ण और कुन्ती के मिलने की बात संवाद के माध्यम से भी आ सकती थी, लेकिन यहाँ प्रत्यक्ष मिलने की जो मार्मिक स्थिति है, उससे काव्य चमत्कृत हो उठता है। घटोत्कच को कर्ण ने ही मारा था, पर महाभारत में यह

द्रोणपर्व की घटना है। कवि ने उसे कर्णपर्व में दिखा दिया है। सच्चाई में कोई अन्तर नहीं आया, पर यहाँ महाकाव्य की कालावधि में उसका संयोजन सेनापति कर्ण के पराक्रम और उसकी विवशता के भाव-प्रवाह को द्विगुणित कर देता है।

हिडिम्बा

कवि ने इस महाकाव्य में घटोत्कच की माता हिडिम्बा को विशिष्ट पात्र बनाकर राक्षसी (या दानवी) नारी के ज़ीवन तथा संस्कृति का अछूता पक्ष बड़े ही भाव-प्रवण चित्रों में उजागर क़िया है, जो हिन्दी-काव्य के लिए नयी देन हैं। कवि मिश्र में घटना-क्रम को उद्घाटित करने का अद्भुत कौशल है। महाकाव्य के दूसरे चिन्ता सर्ग के पूर्वार्ध में पाण्डव-शिविर में भीम, अर्जुन, कृष्ण के साथ द्रौपदी बहुत व्यग्र और उतावली है, वेदना से मर्माहत है कि कल कर्ण से युद्ध कौन करेगा ? वहीं सर्ग के उत्तरार्ध में पाण्डव-पक्ष के अनजाने भीम की बीस वर्ष पूर्व परिणीता राक्षसी पत्नी हिडिम्बा यमुना-तट के वनप्रान्त में वटवृक्ष के नीचे बैठी है और पाण्डव पक्ष की ऐसी ही हित-चिन्ता में व्यग्र है। उसे दानवों से सूचना मिली है कि पाण्डवों का कौरवों से महासमर हो रहा है, वह अपने पति भीम की सहायता के लिए ब्रह्मपुत्र नदी के तट से चलकर यहाँ आ गयी है और अभी उसको यह सुनने में आया है कि कर्ण सेनापति बना है। कर्ण के नाम से जो अधीरता पाण्डव-पक्ष में रही है, इसका ज्ञान उसको अपने देवोपम पति भीम से उस समय हुआ था, जब उसे केवल तीन दिन-तीन रात उनका संग प्राप्त रहा, तब से आज तक वह उनके प्रति निछावर है और आज अपने बली पुत्र घटोत्कच को युद्ध में सहायता के लिए उनके पास भेज रही है। चतुर्थ सर्ग में घटोत्कच ने पाण्डव-शिविर में पहुँचकर अपना जो परिचय दिया है, वह परिचय माता का सिखाया हुआ है, पीछे इस सर्ग के कथा-सारांश में इसे उद्धृत किया जा चुका है। हिडिम्बा के चरित के आख्यान का कवि ने 553 पंक्तियों में विस्तार किया है, कैसे वह भाई हिडिम्ब को भीम से लड़ता देखकर मन ही मन देवोपम भीम की विजय के लिए कामरूप देवी से मनौती करने लगी थी। तीन दिन-तीन रात जो वह उनके साथ रही उसकी स्मृति में आज भी वह भूली रहती है, ब्रह्मपुत्र के तट पर घोर वर्षा की रात्रि में घटोत्कच का जन्म उसके लिए अपार हर्ष का कारण रहा। आज उसकी चिन्ता को देखकर पुत्र घटोत्कच ने अपने अनदेखे पिता को माता के दुःख का कारण समझा और माता से आज्ञा चाही कि यदि वह कहे तो उस पिता को बाँधकर उसके सामने पटक दे। इस पर हिडिम्बा अत्यन्त क्षुब्ध हो जाती है, कहती है कि यदि मैं जानती कि मेरे गर्भ से पितृ-निन्दक जन्म ले रहा है, तो जन्म के समय ही तुम्हें पावस की

धार में बहा देती। घटोत्कच समझ गया, माता से क्षमा माँगी, पिता का स्नेह न पाने की अपनी वेदना भी उजागर की, फिर कैसा युद्ध हो रहा है, कहाँ हो रहा है, पिता के पक्ष में मुझको किससे लड़ना है, इसकी जिज्ञासा प्रकट की और युद्ध में जाने का निदेश चाहा।

कवि के वर्णन का यह संक्षेप है। किन्तु कवि ने हिडिम्बा के चरित के प्रत्येक सन्दर्भ को लोक-स्वभाव की सहजता से तथा गूढ़ भावों के प्रकाशन से मंडित कर दिया है। सहजता और गूढ़ता का विचित्र संगम इस वर्णन में देखने को मिलता है। यमुना के तट पर वटवृक्ष के नीचे बैठी हिडिम्बा का नारी-सौन्दर्य ऐसा नहीं है, जो चाहे वही देखने लगे, पराक्रम की आँखें ही उसे देख सकती हैं, यमुना का वन-तट है, वट-वृक्ष है, आग जल रही है और वह चिन्ता-मग्न है, वर्णन की कुछ पंक्तियों से उसके रूप को आँका जा सकता है—

कालिन्दी किनारे यथा कालिन्दी सहोदरा
बैठी है हिडिम्बा मौन नीलमणि आभा सी,
दानवी अकेली, महावृक्ष वट के तले।
मंजुल समुन्नत धरा है मंजु मंच सी
घेर कर जिसको जटाएँ वृक्ष-राज की
झूला करती हैं, रम्य, तापसी सी प्रमदा
श्यामांगिनी अग्नि के समीप शिखा जाल में
दीप्त हो रही है, वनराजि, लता, गुल्म हैं
दीप्तिमान, होता है पयोधर प्रदीप्त ज्यों
विद्युत् लता जाल से, समुन्नत पयोधरा
धारण किये है चर्म केशरी का कटि में।
आवरणहीन स्कंध, वक्ष, भुजदंड है
आवरणहीन नाभि जलनिधि भँवर सी
नग्न पुष्ट जानु, मूल कृष्ण कदली के हों। (चिन्ता सर्ग 2)

हिडिम्बा ने ज़ोर से अपने महाश्रृंग को फूँका, तड़ककर तड़ातड़ भयंकर आवाज़ वन में गूँज उठी, वन के जीव डर गये। आवाज़ सुनकर पुत्र घटोत्कच उपस्थित हो गया। पराक्रम से पूरित उसके बाल-कौतुक की समानता वाल्मीकि रामायण के अरण्यकांड (2/5-8) में वर्णित राक्षस विराध से की जानी चाहिए। कुछ वैसा ही अद्भुत चित्र इस कवि ने घटोत्कच का अंकित किया है—

उत्सुक हो देखा दानवी ने वनप्रान्त से
निकल रहा है महावीर, महाकौतुकी

नीलगिरि श्रृंग जैसे संचरणशील हो
दानव घटोत्कच, हिडिम्बा स्नेह सिन्धु का
मन्दर महीधर, उठाये वाम कर में
आहत कुरंग, धरे केसर कराल जो
खींच रहा दारुण कराल मुख केशरी
दाएँ हाथ से है। भय-कातर मृगेन्द्र यों
चल रहा मौन चित्र जैसे चित्रपट में। (सर्ग 2 चिन्ता)

हिडिम्बा ने पति की निन्दा करने पर पुत्र से जो कुछ कहा, राक्षसी नारी की यह ऊँची भावना सभी के लिए स्पृहणीय है—

और वही पुत्र तुम आज पुत्र-धर्म का
करते हो पालन जो निन्दा से जनक की
जानते नहीं हो जननी की मनोभावना।...
पुत्र-मोह रोक क्या सकेगा पति-मोह को ?
पुत्र, पिता, भाई का भरोसा जो कि नारी को
होता इस लोक में है, एक रस क्या कभी
टिक सकता है ? कभी आता कभी जाता है
किन्तु दान पति का अपरिमित अमोघ है...
जिन चरणों की पूत छाया में अभय हो
महिमामयी है बनी नारी भव लोक में। (सर्ग 2 चिन्ता)

घटोत्कच की शिकायत भी बहुत सहज और बालोचित है, माता से कहता है—

पुत्र और पत्नी को कठोर ऐसे क्यों बने
पूज्यपाद ? कहती हो राजपुत्र वे जो हैं
फिर क्यों रहे हैं हम दोनों गिरि वन में ?
किसने सुना है कब बोलो, पिता राजा हों
किन्तु पुत्र उसका वनों में रहे घूमता
दानवों के बीच सदा दानव कहाने को ?
भूल गये तुमको वे भूलो तुम उनको
लौट चलें आओ फिर दानवों के देश में। (सर्ग 2 चिन्ता)

हिडिम्बा ने कहा, "ठीक है तुम दैत्य के देश को लौट जाओ। मैं भी अब पुत्र-मोह छोड़कर प्राणधन की रक्षा के लिए उनके संग-संग रणभूमि में मरूँगी।" पर ऐसा कैसे हो सकता था। दानवी के पुत्र ने माता से कहा—"तुम चिन्ता छोड़ो, मैं युद्ध में जा रहा हूँ। यह तो बताओ, पिता को कैसे जानूँगा, क्या कहूँगा, तुम्हारी

ओर से कुछ कहना है ?" तब माता ने उसको परिचय की विधि सिखायी। उसने तत्काल पाण्डव-शिविर की ओर प्रस्थान किया। दूसरे दिन युद्ध में जो पराक्रम दिखाया वह महाभारत की अविस्मरणीय घटना है। उसने युद्ध का पाँसा ही बदल दिया।

कथा का सत्य

कहने को महाभारत का युद्ध धर्म और अधर्म का युद्ध था। दोनों पक्षों ने अपने को धर्म तथा दूसरे को अधर्म कहा है। मूल प्रश्न राज्य के उत्तराधिकार के निर्णय का था, जिसमें औरस पुत्र के रहते क्या अनौरस पुत्र राज्य का अधिकारी हो सकता है, यह बात आड़े आ रही थी। इस प्रकार यह युद्ध कुलाभिमानी तथा कुल की पवित्रता में हेय समझे जानेवाले क्षत्रियों का था। किन्तु यह प्रश्न धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दो कुलों का न रहकर सम्पूर्ण आर्यावर्त का हो गया। भगवान् कृष्ण अपनी सम्पूर्ण शक्ति, नीति तथा कूटनीति से कुलाभिमानी क्षत्रियों के विरुद्ध पाण्डु के पुत्रों के साथ थे। क्षत्रियों का बहुत बड़ा वर्ग धृतराष्ट्र के पुत्रों के पक्ष में युद्ध करने आया। यहाँ तक कि कृष्ण के यादवकुल (यादव गणतन्त्र) की सेना भी कृष्ण की उपेक्षा कर युद्ध में कौरवों के साथ खड़ी थी। कृष्ण की अपनी कूटनीति से विजय पाण्डवों की हुई, विजय के बाद विजेता का पक्ष अपने आप सत्य और धर्म का सम्मत पक्ष हो जाता है। पाण्डवों की विजय का *जयकाव्य* (महाभारत) महर्षि व्यास ने रचा तथा उनके शिष्य वैशम्पायन द्वारा अर्जुन के प्रपौत्र सम्राट् जनमेजय के राज्यकाल में इसका प्रचार-प्रसार हुआ। महर्षि की तपःपूत वाणी *(जयकाव्य)* ने नये समाज, नये धर्म की रचना कर दी, वह वेद का पर्याय बन गया, पञ्चम वेद कहा गया। बाद में इस काव्य ने विराट् जातीय काव्यधारा का रूप ले लिया। दूसरे कवियों ने सारे ज्ञान-विज्ञान को अपनी वाणी में निबद्ध कर इसमें सम्मिलित किया। सम्भवतः यह क्रम एक हज़ार वर्षों तक चला। महाभारत एक लाख श्लोकों की संहिता बन गया। तब यह कहा गया कि जो कुछ भारत में है वह महाभारत में है, जो महाभारत में नहीं है वह भारत में नहीं है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्निहास्ति न तत् क्वचित्।।

युग बीतने पर वैष्णव विचारधारा ने कृष्ण को ही महाभारत का पर्याय कहा। जहाँ कृष्ण हैं वहीं धर्म है, जहाँ धर्म है वहीं जय होगी। कृष्ण का अवतार ही धर्म को प्रतिष्ठित करने, सज्जनों की रक्षा करने तथा दुष्टों का विनाश करने के लिए हुआ।

कवि मिश्र जी में अपनी साहित्यिक रचनाओं में सत्य के अन्तर्दर्शन की

सहज प्रवृत्ति रही है। उनकी नाट्य-रचनाओं तथा भाषणों में अनेक बार ऐसे सत्य के दर्शन हुए हैं। प्रस्तुत महाकाव्य *कालजयी* बहुत अंशों में महाभारत-कथा का सत्य उजागर करता है, जो अब तक आती धारणा के विपरीत है। कवि ने वैष्णवों द्वारा कलंकित किये गये कौरव-पक्ष के सत्य को सामने रखा है। उसके पात्र दुर्योधन, दुःशासन नहीं हैं, सुयोधन हैं सुशासन हैं। उसका नायक कर्ण नीति के लिए युद्ध के नियमों के अनुसार युद्ध करता है। दूसरी ओर कृष्ण का युद्ध नीति-अनीति से सत्य-असत्य से किसी प्रकार विजय प्राप्त करने के लिए है। यह बात *कालजयी* महाकाव्य में कई बार कही गयी है। एक स्थल पर कर्ण सुयोधन से कहता है—

मानते विपक्षी कब रण के नियम हैं ?...
कृष्ण की प्रगल्भता नियम बनी है जहाँ।
धर्म नीति सरिता के सूखे सब स्रोत हैं
सम्भव असम्भव वहाँ क्या ? राजनीति में
धर्म और नीति की परम्परा चली कहाँ ?
विजय अभीष्ट मिले धर्म या अधर्म से,
नीति या अनीति से यही तो कृष्ण कहते।
आँख मूँद पाण्डव हैं मानते जिसे सदा।
देश, जाति, धर्म और नीति की परम्परा
कौरवों के पक्ष में बनी है। पाण्डवों को तो
स्वार्थ-सिद्धि चाहिए मिले जो किसी विधि से। (सर्ग 7)

भगवान् कृष्ण का अवतार जिस धर्म की प्रतिष्ठा के लिए है, उस धर्म के प्रत्यक्ष विग्रह से कम कर्ण भी नहीं है। पर वह उनके विरोध में है। धर्म का धर्म से विरोध महाभारत की कथा का यह विचित्र अन्तर्दर्शन है, इस तीक्ष्ण सत्य की अभिव्यक्ति *कालजयी* महाकाव्य में होती है।

कवि ने कौरवों के पक्ष का जो सत्य प्रकट किया है, वह कवि का कोरा अन्तर्दर्शन नहीं है, महर्षि व्यास के *जयकाव्य* में भी यह सत्य किसी न किसी कोण से प्रकाशित है। इस काव्य का रचयिता तपःपूत ऋषि है, उसकी वाणी सत्य को नहीं छिपाती। हज़ारों वर्ष की अवधि में वैष्णव मान्यताओं ने अपने अनुसार प्रकरणों का प्रक्षेप इस महान् कृति में किया है, द्रौपदी का चीर-हरण, एकलव्य का अँगूठा काटा जाना ऐसे ही प्रकरण हैं। तो भी महर्षि व्यास द्वारा रचित मूल कथा के कई अंश उसी सत्य को प्रकट करते हैं, जिस सत्य को इस कवि ने अपने महाकाव्य का आधार बनाया है। सुयोधन का पक्ष धर्म का पक्ष है, इसकी परीक्षा

उस समय होती है, जब वह भीम द्वारा गदायुद्ध में नियम के विरुद्ध जाँघ पर प्रहार कर धराशायी कर दिया जाता है। सुयोधन मरणासन्न है, वह कृष्ण की ओर देखकर उनकी कुटिल चालों की निन्दा करता है तथा अपने वीरधर्म और वीरगति की प्रशंसा में तीखे उद्गार प्रकट करता है, जैसे—

कंसदासस्य दायाद न ते लज्जास्यनेन वै।।
अधर्मेण गदा युद्धे यदहं विनिपातितः।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य घातितस्ते पितामहः।
अश्वत्थाम्नः सनामानं हत्वा नागं सुदुर्मते।।
आचार्यो न्यासितः शस्त्रं किं तन्न विदितं मया।
यदिष्टं क्षत्रबन्धूनां स्वधर्ममनुपश्यताम्।
तदिदं निधनं प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया।।
ससुहृत् सानुगैश्चैव स्वर्गं गन्ताहमच्युत।
यूयं निहत संकल्पाः शोचन्तो वर्तिष्यथ।।

(शल्य पर्व, अध्याय 61/27, 31-32, 51-53)

अर्थात् कंस के दास के बेटे ! गदायुद्ध में मैं अधर्म से पराजित हुआ, इस कुकृत्य पर तुम्हें लज्जा नहीं आती। शिखण्डी को आगे कर तुमने पितामह को गिराया। अश्वत्थामा नाम के हाथी को मारकर आचार्य द्रोण के पुत्र के मारे जाने का शोर मचाकर आचार्य को युद्ध से विरत करा दिया। हे दुष्ट-बुद्धि ! क्या यह मुझे नहीं मालूम है। क्षत्रिय-बन्धुओं को अपने धर्म का पालन करते हुए जो वीरगति अभीष्ट होती है, वह मृत्यु मैंने प्राप्त की है। मेरा अन्त बहुत अच्छा हुआ। अपने मित्रों, बन्धुओं सहित मैं स्वर्ग जा रहा हूँ, तुम सब भग्न-मनोरथ होकर शोचनीय जीवन बिताओगे।

सुयोधन के ऐसा कहते ही उसके ऊपर आकाश से सुगन्धित फूलों की वर्षा हुई। उसके यश के गीत गाये जाने लगे। सिद्ध गणों ने साधु-साधु कहकर उसकी सराहना की। दिशाओं में प्रकाश छाने लगा, आकाश चमक उठा—

अस्य वाक्यस्य निधने कुरुराजस्य धीमतः।।
अपतत् सुमहद् वर्षं पुष्पाणां पुण्यगनिनाम्।
जगुश्चाप्सरसो राज्ञो यशः सम्बद्धमेव च।
सिद्धाश्च मुमुचुर्वाचः साधु सध्विति पार्थिव।।
व्यराजंश्च दिशः सर्वा नभो वैदूर्य सन्निभम्।।

(शल्यपर्व, अध्याय 61/54-59)

इन अद्भुत बातों को सुनकर तथा सुयोधन की पूजा देखकर श्रीकृष्ण सहित पाण्डव बहुत लज्जित हुए।

इसके पूर्व कृष्ण के बड़े भाई बलराम ने गदायुद्ध में अधर्म से कुरुराज को मारा जाता देखकर अपना हल-अस्त्र उठाया तथा भीम को मारने दौड़े, कृष्ण ने दोनों बाहुओं में उनको भर लिया और प्रार्थना-पूर्वक मना किया। तो भी उन्होंने अप्रसन्न होकर अपना यह निर्णय दे दिया—

हत्वाऽधर्मेण राजानं धर्मात्मानं सुयोधनम्?
जिह्मयोधीति लोकेऽस्मिन् ख्यातिं यास्यति पाण्डवः।।

(शल्यपर्व, अध्याय 60/29)

अर्थात् धर्मात्मा राजा सुयोधन को गदा-युद्ध में अधर्म से मारकर पाण्डु-पुत्र भीम इस लोक में कपटी योद्धा के रूप में निन्दित होगा।

जो विजयी हो जाता है, उसके अनेक दोष विजय की प्रशस्तियों के स्वर-संघात से अपने आप मिट जाते हैं। कहा जाता है कि धर्म राजा को अनुशासित करता है, पर व्यवहार में यह देखने में आता है कि विजयी राजा स्वयं धर्म को अनुशासित करता है। कूटनीति और अधर्म से विजय की प्राप्ति कर शासन-सूत्र पर आरूढ़ होकर धर्म की रक्षा का व्रत लिया जाता है। ऐसा पुराकाल और इतिहास में कई बार हुआ है। समय बीत जाने पर ऐसी घटनाओं के सत्य का उद्‌घाटन अत्यन्त दुरूह है। लेकिन महाभारत का इतिहास महर्षि व्यास द्वारा रचित *जयकाव्य* में सुरक्षित है अतः कवि का तपःपूत अन्तर्मन उसे देख सकता है, सत्य को अनावृत्त कर सकता है। *कालजयी* के कवि ने महाकाव्य में महाभारत की जो कथा कही है, उस कथा का सत्य ऐसे ही अन्तर्दर्शन का परिणाम है। उसके सूत्र मूल *महाभारत* काव्य में भी हैं। अतः विज्ञजनों को कथा के अतिरंजित होने का भ्रम नहीं होना चाहिए।

कवि

इस महाकाव्य की रचना का आरम्भ हिन्दी के छायावाद युग में हुआ। कवि मिश्र छायावाद के विरोधी रचनाकार रहे हैं। उनके मत में छायावाद वह कविता है, जिसमें जीवधर्म तथा जीवन के व्यावहारिक जगत् से हटकर मन की कोरी कल्पना की उड़ान होती है, उसमें जीवन का सत्य नहीं होता। जीव और जगत् के सत्य में ही कविता की प्रतिष्ठा होती है। उन्होंने नाटकों की रचना में ऐसे सत्य को प्रत्यक्ष करने की प्रतिज्ञा की और अपने को बुद्धिवादी कहा। उनके बुद्धिवादी होने का तात्पर्य भी इसी अन्तर्दर्शन से है, जिसमें सत्य सामने आता है। *कालजयी* महाकाव्य के कई स्थलों पर कवि ने अपनी रचना के लक्ष्य तथा वर्तमान में कवियों के मिथ्या प्रलाप, झूठे तत्त्व-बोध की दुःस्थिति पर तीखे विचार प्रकट किये हैं। सातवें सर्ग के

आरम्भ में कवि का ऐसा ही तीखा विचार देखने को मिलता है, जिसमें यह कवि वर्तमान में पश्चिम के अनुकरणवादी कवियों को चुनौती देता है—

भार वे धरा के जीवधर्म से विरत हो
बनते प्रगल्भ शब्द-योजना में भव के
भ्रम वे अभागे सृष्टिधर्म मेट देते हैं
संस्कृति मिटाते वही, धर्म भी मिटाते हैं
जीवन के नद के दुरन्त नक्र हाय रे
गति अवरोध करते हैं, जीव-गति की।
छिपकर अहेर करते जो कवि वाणी में
शक्ति कहाँ उनकी दिखाएँ जो विडम्बना ?

कवि ने अपनी रचना को अनासक्त कवि-कर्म कहा है तथा काव्य की देवी सरस्वती से कहता है कि जो कुछ रचना मैंने अब तक की है, हे माता ! वह तुम्हारी ही वाणी है—

...अनासक्त कर्ण-सा
कवि कर्म भी जो अनासक्त रहे कवि का
राग और द्वेष से बचाये सृष्टि धर्म में
वैसे ही रमा दे, रमा जैसे सृष्टिकर्ता है
अपनी विराट् इस मायामयी सृष्टि में
देवता का काव्य यह सृष्टि है कही गई
ओर छोर जिसका नहीं है श्रुतिवाणी में
जरा और मृत्यु इन दोनों से परे है जो।

(उपनिषद् का वाक्य है—पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति। कवि उसी को दुहराता है।)

सृष्टि की हे जननी ! सहारा पुत्र का बनो
हाँ, हाँ, कहो माता इस लेखनी से सृष्टि जो
अव तक चली है सव वाणी ही तुम्हारी है। (सर्ग 9)

कवि की प्रतिज्ञा है—

...विदेश की विडम्बना मिटानी है
जिसमें मिथ्या विचार देते कविजन हैं
अव इस देश के भी छोड़ तत्त्व-वोध को !
सृष्टि-धर्म-वर्णन की शक्ति जिनमें नहीं
भ्रम में विचारों की भँवर वे वनाते हैं।(सर्ग 9)

अन्त में कवि स्वयं अपनी बात नहीं कहता, वह सरस्वती की वाणी दुहरा रहा है, (जैसा सरस्वती ने कहलाया है)–

और अब वाणी मैं तुम्हारी सुनने लगा–
''बापू-वध माता हुआ हीन कवि-कर्म से।
आया जो विदेशी कवियों से इस देश में
भारती प्रजा का संस्कार मिटा जिससे है।
हत्या, आत्महत्या, छल, दम्भ से भरा है जो
आत्मबुद्धि भारती प्रजा की मरी जिससे
बापू के वध का जो निमित्त बना हाय रे !
धर्मनीति लुप्त अब होगी इस देश में
भारती प्रजा का भाग्य फूटा अब जान लो। (सर्ग 9 का अन्त)

महाकाव्य के बीच में भी कई महत्त्वपूर्ण उद्‌गार कवि के हैं, जिसमें उसने इस देश का कवि होने का संकल्प दुहराया है और यह भी कि वह जो कुछ लिख रहा है, सरस्वती की प्रेरणा से लिख रहा है। काव्य का आरम्भ करते हुए उसने *महाभारत* काव्य-समुद्र के स्रष्टा, महिमा के सिन्धु कवि व्यास से प्रार्थना की है कि मैं तुम्हारे काव्य-समुद्र के तट पर खड़ा हूँ, जो अनन्त रत्न-राशियों से भरा पड़ा है अर्थात् दर्शन, पुराण, काव्य, इतिहास आदि कितने ही ज्ञान-रत्नों का उद्‌गम है। उसकी इस विभूति ने इस दास के हृदय को उद्वेलित कर दिया है। यह यथार्थ में उसे आद्यन्त देखना चाहता है, कृपा कर इस दास को भी संजय की दृष्टि दो, जिससे यह पाँच हज़ार वर्ष पूर्व की उस कुरु-भूमि का दर्शन कर सके, जिसमें वीर-रत्नों ने अपनी अविचल कीर्ति अंकित की है–

भिक्षा माँगता हूँ आज मुझ पर प्रसन्न हो
देव ! दया-दृष्टि कर संजय की दृष्टि दो।
अथवा जगा दो उस सुप्त कल्पना को जो
पहुँचाये मुझको सहस्र पंच पूर्व के
उस कुरुभूमि में, मरे थे जहाँ विश्व के
वीर रत्न, छोड़कर अविचल कीर्ति को। (सर्ग 1 का आरम्भ)

लगता है कि महर्षि कवि व्यास ने इस कवि को संजय की दृष्टि प्रदान कर दी, और इस अन्तर्दृष्टि से उसने महाभारत-कथा के कुछ गूढ़, अब तक छिपाये गये सत्य के दर्शन किये हैं। ये दर्शन अकस्मात् कवि-वाणी से निःसृत हुए, और यह वाणी भी सरस्वती की थी, ऐसे सत्य-दर्शन से कवि स्वयं भी चकित हुआ है, 'चिन्ता' सर्ग में कर्ण से युद्ध की चिन्ता में कृष्णा (द्रौपदी) आकुल है, अर्जुन उसे

आश्वस्त कर रहे हैं, पर वह बहुत उद्विग्न है। अन्तिम कथन में कृष्णा स्वयं के पुत्र-हीन होने से अपने जीवन को सब ओर से हारा हुआ मानती है, कहती है—

''हार चुकी मैं तो यह जीवन जगत् में
सन्तति-विहीन मैं, फली जो नहीं मंजरी,
और जो कि फूली नहीं पाटल की लतिका...
रवि के करों से खेल, शरद-निशीथिनी
वंचित रही जो निशानाथ और तारों से,
मुखरित हुई जो नहीं उषा व्योम-रंजिनी
स्वागत का गान हो जो मंजु खग रव से ?'' (चिन्ता, सर्ग 2)

कवि के स्तब्ध होने का कारण था, यदि द्रौपदी के कोई पुत्र नहीं था तो झूठे ही अमित पराक्रम अश्वत्थामा को कलंकित किया गया कि उसने सोते में द्रौपदी-पुत्रों का वध किया। कथा की धारा में सहसा उदात्त भावधारा ने फूटकर संगम कर लिया। कवि अश्वत्थामा की अपकीर्ति को धो देने का संकल्प लेता है और कहता है कि मैं कवि-सत्य की उपेक्षा नहीं करूँगा—

कहते अमर हैं तो आओ अश्वत्थामा हे !
आवाहन करता हूँ आओ वीर ! आओ तो,...
लाँघा तुमने था जहाँ काल की परिधि को
व्यर्थ कर अर्जुन के कालकूट शस्त्रों को
रोक कर पाशुपत अमर कहे गये,
आओ अपकीर्ति जो तुम्हारी चिरकाल से
चलती रही है आज धोना है मुझे उसे।...
कैसे रोक लूँगा कवि-सत्य ? कवि-प्रेरणा
न्याय-भावना से हीन जायेगी भला कहाँ ?

ओर ऐसा होने पर ही कवि का काव्य लोक-रंजक होकर पाठकों के हृदय पर उट्टंकित होगा—

होगा भला लाभ ही क्या ऐसे काव्य-बन्ध से
लोक-चक्षुओं में जो प्रकाश हो फिरा नहीं। (चिन्ता, सर्ग 2)

यहाँ 'लोक-चक्षुओं में प्रकाश' के दो अर्थ हैं—लोक के हृदय में सत्य का उदय। लोक द्वारा आदर-पूर्वक कवि के काव्य का पढ़ा जाना।

महाकाव्य का नाम *कालजयी* है। यह *कालजयी* संज्ञा काव्य-प्रबन्ध के चार महिमामय चरितों को अभिलक्ष्य करती है—पहले कालजयी भगवान् कृष्ण हैं, वह इस काव्य में अपनी कूटनीति के लिए आदि से अन्त तक ओत प्रोत हैं, उन्होंने

आते हुए काल-प्रवाह—कुलीन आर्यों की विजय-पताका को नीचे झुका दिया। काल के प्रवाह को रोक दिया। दूसरे कालजयी काव्य के चरित नायक सेनापति कर्ण हैं, सभी कुलीन-अकुलीन क्षत्रिय पृथ्वी के जिस साम्राज्य को पाने के लिए जूझ रहे थे। उन्होंने उस साम्राज्य को मित्र-धर्म की पूजा में निछावर कर दिया, काल के सहज प्रवाह की धारा सेनापति कर्ण के संकल्प के आगे सूख गयी। तीसरे कालजयी गुरुपुत्र अश्वत्थामा हैं, वे समूचे महाभारत-युद्ध में अजेय महारथी रहे, पाशुपत अस्त्रों के धनी अर्जुन को भी उनसे युद्ध करने का साहस नहीं हुआ, इस बात के प्रसंग अब भी महाभारत में कहीं न कहीं सुरक्षित हैं, काल के प्रवाह को विजय कर अश्वत्थामा आज भी अमर हैं, मृत्यु पर जय प्राप्त की है। कवि ने गुरुपुत्र के निर्मल पराक्रम को उजागर करने का संकल्प काव्य में लिया है। चौथा कालजयी इस महाकाव्य का प्रणेता स्वयं कवि है। ब्रिटिश साम्राज्य की सुखद छाया में यूनिवर्सिटी में अँग्रेज़ी-साहित्य का अध्ययन कर भारतभूमि के कवि-गण पश्चिमी साहित्य की मानसून-वर्षा में डूब गये, बह चले, रुकने का कोई किनारा नहीं मिला, तब स्वतन्त्रता-आन्दोलन का समय था। इस अकाल वर्षा में यह कवि गिरिश्रृंग की तरह शिर ताने खड़ा रहा, भारतीय साहित्य का जयकार और सृजन करता रहा। राष्ट्र की अस्मिता की पहचान साहित्य से होती है, साहित्य को पढ़कर जान लिया जाता है कि उसकी रचना किस भूमि पर हुई है। इस शती के चौथे-पाँचवें दशक में भारतीय साहित्य की पहचान पर प्रश्न-चिह्न लगने लगा, तब इस कवि ने साहित्य-जगत् में पश्चिमी काल-प्रवाह का संज्ञान न लेकर उसके शिर पर पैर रख दिया। इन चारों कालजयी पुरुषों के महिमामय चरित की अभिव्यक्ति इस महाकाव्य में हुई है और इसका *कालजयी* नाम अन्वर्थ होता है।

काव्य-सौन्दर्य

कालजयी में महाकाव्य के प्रकृत लक्षणों की समग्र उपस्थिति तथा उसकी प्राणवान् कथा का परिचय पीछे दिया जा चुका है। उसके प्रकृत लक्षण तथा कथा में जो गहन सौन्दर्य अन्तर्भूत है, उसके दर्शन हम तब करते हैं, जब रचमान स्थिति में डूबे कवि की अलंकृत उक्तियों में वह प्रस्फुटित होता है या कि घटमान कथा के तरंगों में रूप धरता है। वह सौन्दर्य भाषा में हैं, या कि कथा और उसके कथा-रस में है, इस विषय में इदमित्थं कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पर इतना कह सकते हैं कि अलंकृत उक्तियों में काव्य-सौन्दर्य को प्रस्फुटित कर देने की बड़ी क्षमता होती है, इससे ही कवि की भाषा-शक्ति का पता चलता है। भाषा-शक्ति का अर्थ है, कवि की रचना-शैली या कवि-मार्ग, जो प्रत्येक कवि का अपना होता है। यहाँ *कालजयी*

के काव्य-सौन्दर्य के कुछ उदाहरण दिये जाते है, जिससे कवि के उक्ति-सौष्ठव का पता चलता है।

आचार्य कुन्तक के लक्षणों के अनुसार *कालजयी* का कवि सुकुमार मार्ग का कवि है, सुकुमार मार्ग का अर्थ है—कवि की सहज स्थिति की रचना, जिसमें नये-नये शब्द अर्थ और वस्तु-घटनाक्रम अम्लान प्रतिभा से अपने आप फूट पड़ते हैं, अनायास आये उक्ति-वैचित्र्य उसे अलंकृत करते हैं। उसमें एक अज्ञात सौन्दर्य समाया रहता है, जो सहृदयों को अनुरंजित करता है। विधाता की विदग्धता से निर्मित सृष्टि की समानता करनेवाला यह सुकुमार मार्ग है, जिसमें जो भी वैचित्र्य सम्भव होता है, सुकुमार भाव में तरंगित होकर निर्झर की तरह फूट पड़ता है (वक्रोक्ति जीवित 1/25-29)। महाकाव्य का दूसरा 'चिन्ता' नामक सर्ग इस सहज सुकुमार मार्ग की रचना का उत्कृष्ट निदर्शन है—

रात्रि का समय है, पाण्डव शिविर में कर्ण से युद्ध की चिन्ता में भीम अपनी गदा उछालकर फेंक देते हैं। उसकी भयानक आवाज़ होती है, द्रौपदी चिन्तित होकर अर्जुन से कहती है—

> ...नाथ मारा क्या हिडिम्ब को
> आज है तुम्हारे बली भाई ने समर में
> घोर गदाघात से हिली जो यह धरती
> देखो नाथ, देखो। (सर्ग 2)

द्रौपदी का यह कथन घबड़ाहट में निकल पड़ा था, फिर उसने स्वस्थ होकर कहा—

> हाय नाथ संभ्रम में दासी ने कहा है जो
> उसको हुए तो युग बीते, आर्य-सुत ने
> मारा नरभोजी उस दानव दुरन्त को।...
> गूँजी ध्वनि दारुण थी ऐसी ही वहाँ भी तो
> काँपा वनप्रान्त और काँपा जनपद था।
> जा रही हूँ नाथ अभी जाकर मैं देखूँगी
> किसकी हुई है यह रात्रि कालरात्रि हा। (सर्ग 2)

पाण्डव शिविर के कार्यकलापों का दर्शन करती हुई कवि की प्रतिभा सहजभाव से पाण्डवों की चिन्ता में बैठी भीम की दानवी पत्नी हिडिम्बा के पास यमुना के तट पर पहुँच जाती है, जिसकी कल्पना भी पाण्डवों को नहीं है। सब कुछ अनजाना है, पर पाण्डवों की चिन्ता की धारा में डूबा कवि वहाँ पहुँच जाता है, जहाँ उसका किनारा है, वह अचानक गा उठता है—

कालिन्दी किनारे यथा कालिन्दी सहोदरा
बैठी है हिडिम्बा मौन नीलमणि आभा सी
दानवी अकेली, महावृक्ष बट के तले।

और यह हिडिम्बा पाण्डवों की हित चिन्ता में पुत्र घटोत्कच से कहती है—

आज वत्स ! जाओ करो रक्षा पितृकुल की
जननी तुम्हारी यह करती है याचना। (सर्ग 2)

पाण्डव-शिविर में चिन्ता का वही भय-संभ्रम युक्त मन्थर प्रवाह है। कवि प्रवाह में सहज रूप से हिडिम्बा की स्मृति में डूबा हुआ हिडिम्बा के पास पहुँचा जाता है, जहाँ चिन्ता का अन्त हो जाता है, उतरने का किनारा है। कथा का यह रमणीय तरंगित प्रवाह, जो युद्ध के शिविर से नदी तट पर जाकर टकराता है, अत्यन्त सुकुमार और सौन्दर्ययुक्त है। इसे ही कवि का सुकुमार (सहज) कवि-मार्ग कहते हैं।

अलंकृत उक्तियों में कवि ने स्वभावोक्ति तथा औपम्यमूलक अलंकारों का बहुत प्रयोग किया है। अलंकृत काव्य-रचना का सौन्दर्य स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति—इन दो विधाओं में विभक्त है (*काव्यादर्श,* 2/363)। औपम्यमूलक उक्तियाँ वक्रोक्ति विधा के अन्तर्गत ही आती हैं। उपमा, रूपम, व्यतिरेक, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा, सन्देह, निदर्शना, पर्यायोक्ति, समासोक्ति, विकल्प, उल्लेख, प्रतिवस्तूपमा, विषम अलंकार इस काव्य में बहुत प्रयुक्त हुए हैं। वक्रोक्ति-सिद्धान्त की कसौटी पर भी इस काव्य में हृदय को स्पन्दित करनेवाले काव्य-सौन्दर्य के अनेक चित्र हैं। प्रकरण-वक्रता, पद पदांश और वाक्य की वक्रता की उक्तियाँ इस काव्य के अर्थ-बोध को तीव्र कर सौन्दर्य से मंडित कर देती हैं। कवि ने इन उक्तियों से काव्य की कथावस्तु के ऐसे सौन्दर्य का सृजन किया है, जो म्लान नहीं पड़ता, उसकी व्याख्या नवीनता के लिए शेष रह जाती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

1. महाभारत में कई स्थलों पर भगवान् कृष्ण की वाणी को मेघ निस्वन कहा गया है, ग्रीष्म के अन्त में जब धरती म्लान पड़ी हो, तब जैसे मेघ की वर्षा सुखदायी हो जाती है, ऐसे ही चिन्ता में डूबे द्रौपदी-समेत पाण्डवों के शिविर में विपरीत पार्श्व से विवेक के लिए सावधान करते कृष्ण की वाणी की वर्षा पाण्डवों के म्लान मुख को प्रफुल्ल कर देगी—कथावस्तु के इस समूचे सन्दर्भ का समासोक्ति की संक्षिप्त उक्ति में कवि ने रमणीय निबन्धन किया है—

श्याम घन घोष करता हो ग्रीष्म सन्ध्या में
पश्चिम गगन में गम्भीर धीर ध्वनि हो
पावस की सूचना सी, लोक ताप-हारिणी
आयी ध्वनि। रुक्मिणी-विनोदी कहने लगा—(दूसरा सर्ग)

'रुक्मिणी-विनोदी कहने लगा'—अन्तिम वाक्य पूर्व कथन का पर्याय होकर पर्यायोक्ति अलंकार भी है।

2. आचार्य द्रोण की मृत्यु से कुरुराज को बड़ा भय हो रहा है। ऐसा कुछ भान अश्वत्थामा को होता है, यह बात वह कर्ण से कहता है। कर्ण ने इस बात को मिथ्या करार देते हुए जो उत्तर दिया है, उसमें निदर्शना अलंकार की उक्ति में निर्भयता का भाव हृदय में गहरे उतर जाता है—

'स्वप्न देखते हो गुरुपुत्र ! हिमकर से
चूती कभी अग्नि या कि दिनमणि से कभी
होता है अँधेरा !' अंगराज कहने लगा—
'प्राणभय होगा कुरुराज को ! जलधि क्या
सूखेगा निदाघ में।' (पहला सर्ग)

3. खीझ से भरी द्रौपदी की नीचे की उक्ति में, जो कृष्ण को सम्बोधित कर कही जा रही है, आक्षेप, उत्प्रेक्षा और भाविक अलंकारों की सहज उपस्थिति ने प्रस्तुत सन्दर्भ को अत्यन्त सजीव कर दिया है—

अब तक बँधी है नहीं, विधवा की वेणी में
और इस वेणी में विभेद कहाँ पाते हो ?
जानती जो दुर्जय धुनर्धर जगत में
कालपृष्ठधारी है अकेला सुत राधा का
तब तो स्वयंवर में बरती उसी को मैं।
जिसका निवारण किया था हीन-जन्म से
मैंने, और रोका जिसे लक्ष्यभेद से भी था।
मर्माहत वीर अपमान विष पीने से
ऐसा लगा कालकूट पीकर महेश हो। (दूसरा सर्ग)

कर्ण के दुर्जय धनुर्धर मान लेने से अर्जुन के साथ अपने विवाह पर पश्चात्ताप (निषेधभाव) आक्षेप अलंकार है। कर्ण हीन-जन्म होने का गहरा अपमान पीकर उस समय कालकूट (हालाहल) पीनेवाले शंकर के समान लग रहा था—इस कथन में उत्प्रेक्षा है। द्रौपदी भूतकाल की इस घटना को, चिन्ता में मग्न होने के कारण प्रत्यक्ष की भाँति देख रही है, अतः भाविक अलंकार है।

4. कर्ण द्वारा राजमाता कुन्ती के प्रति कहे गये नीचे के कथन में संवृत वक्रता ने अर्थ-बोध को तीव्र कर दिया है—

फूटी धार पय की थी उनसे पला था मैं
वन्ध्या बनी पुत्रवती पय की विभूति से।

हीन-जन्मा नारी जहाँ, जीवन की मूरि हो,
पूत पयोधर से जिलाये पर शिशु को
स्नेहमयी धरती का भार जिस मन में,
कैसे फिर शंका वहाँ नारी में कुलीन जो ? (सर्ग 3)

नारी की महिमा का बखान कर्ण की इस उक्ति में है। वह कहता है—नारी में सहज मातृ-भाव होता है, आप मेरी माता अवश्य होंगी, जब हीन-जन्मा नारी ने मुझको गंगा की धारा से उठाकर पवित्र दूध पिलाकर बड़ा किया और मेरे जीवन की अमृत संजीवनी बन गयी, उसके मन में स्नेह से भरी धरती का भार रहा, फिर वहाँ (आपके मातृत्व भाव के प्रति) सन्देह कैसे हो सकता है, जो कि कुलीन नारी हैं। कुलीन नारी झूठ क्यों बोलेगी। यहाँ काव्य के मूल पाठ में अन्तिम पंक्ति में 'कैसे', 'वहाँ', 'जो' सर्वनाम पदों में संवृत-पद वक्रता की अर्थगर्भित उक्ति है, जो एक तरह से कुन्ती की कुलीनता के प्रति व्यंग्य है।

5. इसी के आगे कर्ण विनय और स्वाभिमान भरी वाणी में दृढ़ता से राधा के प्रति अपने मातृभाव को दुहराता है, आक्षेप अलंकार की इस उक्ति में सारा प्रसंग अत्यन्त मार्मिक हो उठता है—

कहती हो जन्म तुमने था दिया मुझको
पुण्यमयी, पद में तुम्हारे हूँ प्रणत मैं
जननीमय मुझको मिला जो यह लोक है
केवल प्रसाद से तुम्हारे भगवति हे !
किन्तु अब रोको निज वाणी, यह पुत्र जो
सामने खड़ा है, एक मात्र सुत राधा का
जानो इसे। राधा-सुत लोक कहता है जो
कुल बल विहीन, पुरुषार्थ का सहारा है
मेरे लिए उसमें भी, किन्तु पुत्र कुन्ती का
बनकर गिरूँगा पुरुषार्थ से भी जननी ! (सर्ग 3)

पीछे सर्गानुसार कथा-क्रम के परिचय में कई रमणीय चमत्कारी अलंकृत उक्तियों को उद्धृत किया जा चुका है। यह महाकाव्य रसभाव-निरन्तर तो है ही, कथावस्तु को प्रकाशित करनेवाली अलंकृत उक्तियों से ओत-प्रोत है। आदि से अन्त तक कथा-रस कहीं छिन्न नहीं होता।

एक बात खटकती है। कवि का कवि-कर्म तथा कर्ण का वीरधर्म दोनों अनासक्त हैं, गीता के निष्काम कर्म-योग की तरह। इस बात को कवि ने स्वयं कहा है, लेकिन इसके विपरीत वह काव्य में अनेक बार दैवगति की दुहाई देता है,

जो उचित नहीं है।

इस महाकाव्य की रचना तब हो रही थी, जब देश की स्वतन्त्रता के लिए देशभक्त वीर आन्दोलन में कूद रहे थे, उनके उत्साह को देखकर कवि को अपनी कर्म-हीनता पर ग्लानि होती है। वह स्वयं उत्साहित होता है और मांतृभूमि के पुजारियों का यशोगान करता है–

कर्म-हीन जीवन की कल्पना भी जग में
हेय सुधियों को रही और कर्म-हीन मैं
जीवित हूँ। आज फिर सिन्धु कर्मयोग का
लहरा रहा है, मातृभूमि के पुजारी ये
पुण्यभूमि भारत वसुन्धरा के वीर ये
निर्भय विरागी और रागी एक संग हैं
कूद रहे जिसमें। ये मृत्युंजय मृत्यु को
करने पराजित चले हैं। (सर्ग 2)

1956 में प्रथम बार जब इस महाकाव्य के पाँच सर्ग प्रकाशित हुए थे, साहित्यालोचकों ने इस काव्य-प्रबन्ध की भाव-प्रवणता और विषय-वस्तु को हृदय से सराहा था। *कालजयी* के रूप में प्रकाशित होने से पूर्व अपनी भूमिका में पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी ने इस काव्य-प्रबन्ध को हिन्दी का गौरव कहा है–"हिन्दी में इस काव्य की रचना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। मैं हिन्दी काव्यों की तुलना करने का अधिकारी नहीं हूँ, किन्तु मैं इतना तो अधिकार-पूर्वक कह ही सकता हूँ कि खड़ीबोली में ऐसे महान् काव्य की रचना कर, जिसे हम हिन्दी के श्रेष्ठ प्रतिनिधि काव्य के रूप में साहित्य-संसार में रखकर हिन्दी के मस्तक को गर्व से उठा सकते हैं, मिश्र जी ने कीर्ति प्राप्त कर ली है। मुझे विश्वास है कि यह परम श्रेष्ठ और शिव एवं अमर कृति हिन्दी-पाठकों को असीम आनन्द और प्रेरणा देती रहेगी।"

(*कालजयी,* पृष्ठ 378)

महाकाव्य में दो विशिष्ट पुरावृत्तों का सन्दर्भ

(क) यदुकुल की मूलभूमि

प्रथम सर्ग (मन्त्रणा) में सुयोधन, गुरुपुत्र, शल्य, कृतवर्मा आदि सभी विश्वस्त परिजन आचार्य द्रोण की छल से हुई मृत्यु पर उदास चित्त बैठे हैं तथा कृष्ण की अनीतियों की याद कर रहे हैं। कृतवर्मा यदुकुल की सुधर्मा-सभा में घटित उस वृत्त की याद कराता है, जब कृष्ण और सात्यकि की दुरभिसंधि से सारी यादव सेना को

कुरुराज के विरोध में लड़ने के लिए भेजा जा रहा था, सात्यकि ने यादव-सेना की खूब प्रशंसा कर उत्साहित किया था, कोलाहल मचा था।

कोलाहल सुनकर यदुकुल के दलपति बलराम वहाँ आ गये। उन्होंने कृष्ण से पूछा—"क्या है, यहाँ सभी क्यों इकट्ठा हुए हैं और किस हेतु यह कोलाहल हो रहा है।" जब तक कृष्ण उत्तर दें, कृतवर्मा कहता है, मैंने उनको रोका और दलपति बलराम को लक्ष्यकर कहा—"आप कुलश्रेष्ठ दलपति हैं और आपको इस कोलाहल का पता नहीं है। आप तो वीतराग और वीतस्पृह हैं। कृष्ण जो चाहते हैं, वही होता है। आज ये यदुकुल की सेना को कुरुराज के विरोध में पाण्डवों के पक्ष से लड़ने के लिए भेज रहे हैं। आपको पता नहीं है। यह अविचार है।"

इसके आगे अपनी वक्तृता में कृतवर्मा ने यदुकुल और कुरुकुल के मूल इतिहास को उद्धृत किया। उसने कहा—"आर्यकुल की ईर्ष्या और विग्रह की अग्नि में हमें नहीं जलना चाहिए। इन्होंने हमें (एक कुल का होने पर भी) अनार्य कहा। कुरुराज किस बात के लिए दोषी है, जो हम उसका विरोध करें। कुलप्रेम में जो हम भारत में चले आये, वह ठीक नहीं है। यदुवंश के विधान की रक्षा के लिए निर्वासित होकर हम समुद्र के बीच आकर बस गये। अच्छा होगा यदि हम अपने मेरु के प्रतीची प्रान्त में लौट चलें। जहाँ सुन्दर नदियाँ शिखर से बहती हैं। कोकिल, केकी वन को गुँजाते रहते हैं। वामाएँ केसर की कान्ति और केसर की गन्ध से घर, उपवन और सरोवर को आमोदित करती हैं—

आर्य कुल ईर्ष्या और विग्रह की अग्नि में
हम क्यों जलें यों भला सोच देखो मन में ?
आर्यकुल ईर्ष्या और द्वेष की विभीषिका
छू न सके वीरो ! हम लौटें उस देश को
बहती जहाँ हैं मंजु तटिनी शिखर से
फूलते हैं फूल, मधुचक्र जहाँ वृक्षों में
रहता सदैव जहाँ निस्वन वसन्त है,
कूकती हैं कोकिलाएँ, केकी कंठ रव से
गूँजता जहाँ है गिरि, व्योम, वन, वामाएँ
केसर की कान्ति और केसर की गन्ध से
आमोदित करतीं गेह उपवन सर हैं।

कृतवर्मा का यह कथन पौरव कुल का पुरा इतिहास है। हिमालय के नीचे गंगा और सरस्वती नदियों की भूमि के राजा पुरु ययाति के पुत्र थे। वे पाँच भाई थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरु। पुरु ने बूढ़े पिता को अपनी युवा अवस्था कुछ

समय के लिए दे दी थी, इसलिए उन्होंने राज्य का उत्तराधिकारी पुरु को बनाया, पुरु प्रतापी राजा था, उनके नाम से कुल को पौरव कुल कहा गया। शेष चार भाइयों ने आर्यावर्त के पश्चिमी भूखण्डों में अपना राज्य स्थापित किया, इन भूखण्डों में अधिकांश म्लेच्छ जातियाँ रहती थीं। यदु ने अपना राज्य मेरु के नीचे (सम्भवतः वर्तमान इराक में) प्रतिष्ठित किया। उसी भूखण्ड का वर्णन कृतवर्मा के उक्त कथन में होता है। कुछ पीढ़ियों के बाद यदुकुल के वे पराक्रमी क्षत्रिय कुल की मूलभूमि भारत में बसने के इच्छुक हो गये। और उन्होंने तीन ओर से समुद्र से घिरी भूमि में अपना राज्य स्थापित किया, द्वारका को उसकी राजधानी बनाया। इनका मूलवंश पुरु के पुत्र कुरु के नाम पर अब कुरु-वंश कहा जाता था। कुरु-वंश तथा भारत के दूसरे क्षत्रिय यदुकुल-क्षत्रियों को म्लेच्छ भूमि से आने के कारण अनार्य कहते थे।

(ख) जरासन्ध द्वारा राक्षसकुल को अभय दान

जरासन्ध ने दानवों को अपने राज्य में नर-बलि की छूट दे रखी थी, दानव मनुष्यों को मारकर उनका मांस खाते थे। अग्नि में मांस-मदिरा की आहुति करते थे। भीम ने जरासन्ध को द्वन्द्व-युद्ध में पराजित कर मार डाला, तथा उसके कारागृह में बन्दी एक सहस्र राजाओं को मुक्त कर दिया। इसके अनन्तर दानवों की वह मनमानी समाप्त कर दी, जो वे नरबलि करते थे तथा मनुष्यों को मारकर खा जाते थे। दानवों ने इसे अपना अधिकार समझ रखा था, महाभारत की कई कहानियाँ इसका साक्ष्य हैं। जरासन्ध के मारे जाने पर दानवों का यह अधिकार जाता रहा। दानवेन्द्र हिडिम्ब इसीलिए भीम को मारने के लिए खोज रहा था, लेकिन जब सामना हुआ तो वह स्वयं मारा गया।

दूसरे चिन्ता-सर्ग में हिडिम्बा ने यह कथा पुत्र घटोत्कच को सुनायी है। भाई हिडिम्ब की इस प्रतिज्ञा को भी वह उद्धृत करती है—

मार जरासन्ध को यशस्वी भीमसेन है
आज बना; किन्तु उसे मारकर समर में
लेना प्रतिशोध मुझको है मित्र-वध का।
दंडनीय जिसने न माना नर-बलि को—
और नर-मांस भोजी दानवों की विधि में
बाधक बना न कभी, किन्तु भीमसेन तो
सुनते हैं कृष्ण की विडम्बना में पड़ के
रोकने लगा है दानवों को नरबलि से।

छेड़कर दानवों को मारता सदा है जो
भाग कर दानव आ रहे शरण में–
मेरे, दैत्य कुल को अभय दान देना है
मुझको कि आप मरना है जूझ रण में।

महाकाव्य की यह उक्ति मिश्र जी के अपने *नारद की वीणा* के प्रतिपाद्य का भी अनुसरण करती है जिसमें सात्वत नर-नारायण ने ऋषि संकृत को मांसाहार करने से विमुख किया है। नारायण ही कृष्ण रूप से अवतरित हुए–यह पौराणिक मान्यता है। मिश्र जी ने नारायण और कृष्ण के विचारों और कार्यों में एक ही जीवन-विधि और संस्कृति को देखा है जो अनेक युगों के संघर्ष और जटिल स्थितियों के बाद भी हमारी सनातन जीवन-पद्धति है।

5

मत-सम्मत

मिश्र जी के साहित्य के विषय में कतिपय मूर्धन्य आलोचकों के मत-सम्मत का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। इनसे उनकी कृतियों के मूल्य का पता चलता है। साथ ही इस बात का आभास होता है कि भारतभूमि के साहित्य की रचना का संकल्प लेनेवाले मिश्र जी बीसवीं शती में हिन्दी-साहित्य के इतिहास के एक स्वतन्त्र अध्याय हैं।

आलोचकों के मत

- पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों द्वारा स्त्रियों की स्थिति आदि कुछ सामाजिक प्रश्न या समस्याएँ तो सामने रखी ही हैं। यूरोप में प्रवर्तित 'यथातथ्यवाद' का वह खरा रूप भी दिखाने का प्रयत्न किया है जिसमें झूठी भावुकता और मार्मिकता से पीछा छुड़ाकर नर-प्रकृति अपने स्वाभाविक रूप में सामने लायी जाती है। (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, संस्करण संवत् 2053; पृष्ठ 302)
- मिश्र जी के नाटक प्रायः तीन अंकों के हैं। उनके संवाद प्रायः छोटे हैं, भाषा बहुत साधारण किन्तु तर्क और व्यंग्य से ओतप्रोत होती हैं। नाटकों में रंग-निर्देश के अधिक जटिल विधान नहीं होते। एक-दो नाटकों को छोड़कर गीतों का प्रयोग भी स्वाभाविकता लाने के लिए नहीं किया गया है। संवाद और रंग-निर्देश की विशेषताएँ आगे चलकर ऐतिहासिक पौराणिक कृतियों में कम हो गयीं। उनकी इन विशेषताओं को लेकर ही कहा गया है कि खेले

जाने की दृष्टि से अच्छे नाटक लक्ष्मीनारायण मिश्र ने लिखे। (*हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास*, नगरी प्रचारिणी सभा काशी, प्रथम भाग, पृष्ठ 670)

- परन्तु फिर भी प्रतिभा का स्पर्श उनमें सबसे अधिक है। उनकी मूल समस्या काफ़ी गहरी होती है और उनकी पकड़ भी उतनी मज़बूत। इसके अतिरिक्त उनका सबसे बड़ा गौरव यह है कि आधुनिक नाटककारों में सामान्य से परे केवल उन्हीं की पहुँच है। आज के प्रायः अन्य नाटककार जहाँ ज़िन्दगी की चहारदीवारी के चारों ओर घूमते हैं वहाँ मिश्र जी कहीं न कहीं तोड़कर (क्योंकि उसके भीतर घुसने का कोई स्वाभाविक रास्ता नहीं है) उसके अन्दर प्रवेश करते हैं। (डॉ. नगेन्द्र, *आधुनिक हिन्दी-नाटक*)
- श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी के कुशल नाटककार हैं। उनके नाटकों में तीन बातों से मैं विशेष प्रभावित हुआ हूँ, उनकी टेकनीक, भाषा-शैली, सांस्कृतिक अनुशीलन। उनकी टेकनीक पर हिन्दी साहित्य को गर्व हो सकता है...है भी। हिन्दी-नाटककारों में सम्भवतः ये पहले थे, जिन्होंने अपने रंगमंच को पारसी थियेटर की बोझिल, अस्वाभाविक, कथोपकथन प्रधान और वाणी बहुल परम्परा से सर्वथा मुक्त कर दिया। इस परम्परा से, भूलना न चाहिए, प्रसाद जी के कोटि तक का साहित्यकार मुक्त न हो सका। मिश्र जी ने यदि इतना ही कर दिया होता तो मैं उनका अभिनन्दन करता। परन्तु इसके अतिरिक्त भी अनेक अंशों में उनकी सफलता सराहनीय है। (डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, *कसौटी पर* पृष्ठ 148)
- मिश्र जी का ध्यान काव्य से हटकर नाटकों की ओर चला गया। इन नाटकों में व्यक्ति और सामाजिक परिवेश के संघर्ष का बहुत आकर्षक रूप निखरा था। मुझे याद है कि इन नाटकों से प्रभावित होकर ही कलकत्ते में मैं पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र से मिला था। उन दिनों वे बहुत ग्लानि में थे। उनके छोटे और एक मात्र भाई की अत्यन्त सुकुमार वय में ही निर्मम हत्या कर दी गयी थी। अत्यन्त शोक और संविग्न अवस्था में भी बौद्धिक दृष्टि से वे पूरे जागरूक थे। इन नाटकों में भी उनका प्रखर बौद्धिक रूप ही पाठकों को आकृष्ट कर सका था। उन्हीं दिनों ये नाटक विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पढ़ाये जाते थे। कलकत्ते में उनसे मिलने पर मैं उनके तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ था। (डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, *कालजयी* की भूमिका)
- मिश्र जी की बातों से मतभेद हो सकता है, पर जब वे कहते हैं कि 'हमारा

आज का साहित्य यदि अनुवाद के रूप में पश्चिमी भाषाओं में रखा जाये तो वहाँ के विचारक इसे देखकर विस्मित न होंगे, जैसा *अभिज्ञानशाकुन्तल* के अनुवाद से उनके पूर्वजों को विस्मय हुआ था।' तो उनके कथन को भावुकता कहकर टाला नहीं जा सकता। (डॉ. देवराज उपाध्याय, *साहित्य एवं शोध : कुछ समस्याएँ*, पृष्ठ 86-87)

- मिश्र जी में हमें एक बड़ी तीव्र बलवती विचार-धारा, एक वेदना-मिश्रित तिलमिलाहट, समाज और परिस्थितियों के प्रति एक मार्मिक, किन्तु गम्भीर व्यंग्य मिलता है। मिश्र जी ने हिन्दी साहित्य में सबसे पहले पाश्चात्य प्रणाली, न केवल बाह्य टेकनीक सम्बन्धी, किन्तु आन्तरिक चरित्र-चित्रण सम्बन्धी भी एवं अन्य समस्याओं, जीवन की विषमताओं, भारतीय जीवन में उठनेवाली सामाजिक और साहसिक क्रान्तियों को भी आधुनिक रूप में देखा है। इसमें सन्देह नहीं, यदि मिश्र जी के नाटकों को खेले जाने का सुयोग मिलता तो आज से कई वर्ष पहले हिन्दी-साहित्य-समाज में एक घोर क्रान्ति की उद्भावना हो जाती और मिश्र जी का अनुसरण तरुण-समाज में जीवन और बल प्रदान करता। (शिखरचन्द्र जैन : *हिन्दी नाट्य-चिन्तन*)

मिश्र जी का दृष्टिकोण

- जिस जाति के जीवन में उसकी पौराणिकता मिट गयी। पुराने विश्वास धुँधले पड़ गये। जीवन के परम्परागत मानदण्ड बिखर गये, उस जाति की समूची संस्कृति का अन्त हो गया। पौराणिकता के जीवित होने का अर्थ होता है, जाति का जीवित रहना। (*चक्रव्यूह* नाटक, भूमिका)
- जीवन के दर्शन का अर्थ है, उसके मूल का दर्शन, जिसे उपनिषद् में ब्रह्मविद्या की अभिधा दी गयी है, जिसमें जीवन के भीतर से जीव का अनुभव, जीव के भीतर से ब्रह्म का अनुभव है। जीवन की विजय-यात्रा का यह मार्ग साहित्य और कला का मार्ग है—धर्म और दर्शन का मार्ग है। पश्चिम की तरह दर्शन किसी ओर भागा जा रहा है धर्म किसी ओर, जीवन किसी ओर भागा जा रहा है तो साहित्य किसी ओर, यह दशा अपने यहाँ नहीं है। (*बम्बई राज्य-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद से दिया गया, भाषण* संवत् 2011)
- हमारे कवि, विवेचक और आचार्य इस भारतीयता की प्रतिष्ठा कर अपनी परम्परा और अपनी भूमि का ऋण भरें। जीवन, धर्म और साहित्य हमारे लिए फिर एक हों, जैसे वे कालिदास के लिए थे। कालिदास के युग में हम

न जा सकेंगे, पर वह युग अपनी स्वाभाविक यात्रा में आज कैसा होता, यदि पिछले एक सहस्र वर्ष की विदेशी सत्ता के नीचे हम न आ गये होते ? हमें इस मर्म को देखना है और अपनी मृतप्राय भारतीयता को फिर से जीवित कर प्रतिष्ठित करना है। (उतरप्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन वाराणसी, 21 फरवरी 1961)

- जिस संस्कृति ने गंगा, यमुना, सरयू, सिन्धु, सरस्वती, ब्रह्मपुत्र, रेवा, कृष्णा, कावेरी और गोदावरी के तट पर अपने बड़े से बड़े चक्रवर्ती राजाओं और मनीषियों को भस्म कर मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी, उसे ताज़महल या मिश्र के पिरामिडों में मृत्यु की पूजा नहीं रुची। नदी की धारा की तरह जीवन-धारा को भी अटूट माननेवाले हमारे पुराने विचारकों ने मरी देह रखने के लिए कोई भवन न बनाकर उसके भस्म को जल की धारा में बहाकर जीवन की बहती हुई धारा में अपनी बुद्धि का अभिषेक किया था। आत्मा की अमरता की बात कहकर मृत्यु को केवल रूप विपर्यय कहनेवाली इस देश की संस्कृति के सबसे बड़े पोषक कई सौ वर्षों में केवल महात्मा गाँधी हुए थे। ताज शायद इसीलिए उन्हें नहीं लुभा सका कि उसके मूल में ही वह अज्ञान था, जो देह को बराबर बनाये रखने का किसी भी जीवधारी का पहला मोह है। कला जीवशास्त्र की भौतिक कामना से बढ़कर कुछ और भी है। स्वर्गीय बापू देह की नहीं, आत्मा की अमरता मानते थे। (अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के बम्बई अधिवेशन, (संवत् 2006) में *साहित्य परिषद् के सभापति पद से दिया गया भाषण*)
- भरत का रस-सिद्धान्त और अरस्तू की कथार्सिस निश्चय ही दो लोकों के विधान हैं। यह अन्तर भास और कालिदास के नाटकों को एक ओर और यूनानी शोकान्तिकाओं को दूसरी ओर रखकर देखने से स्पष्ट हो जायेगा। (*दशाश्वमेध* नाटक की भूमिका)

  भारतीय रस-बोध और यूनानी कथार्सिस में भेद दोनों देशों की जीवन-विधि का भेद है।...कथार्सिस मृत्यु की उपासना है और रस जीवन-दर्शन की। हमारे तत्त्व-दर्शन में लोक-जीवन से पृथक् व्यक्ति-जीवन नहीं देखा गया। ...आनंद की तन्मयी दशा में इस भूमि का स्रष्टा व्यक्ति की परिधि के परे जब समाधि या ब्रह्मानुभूति की वृत्ति में पहुँच गया, तब उसकी चिन्मयता शब्दों में खिलकर काव्य बनी। लोक-जीवन में व्यक्ति-संघर्ष को गति देकर सृष्टि के सुख से पश्चिम बराबर वंचित रहा हैं (*वैशाली में वसन्त* नाटक की भूमिका)

- धर्म जड़ और निर्जीव नहीं है, वह चेतन और सजीव है और चेतन और सजीव सदैव परिवर्तन और संस्कार पर टिका है। परिवर्तन और संस्कार केवल मृत्यु में नहीं होता, किन्तु धर्म मृत्यु नहीं, अमरत्व है। (*नारद की वीणा*, तीसरा अंक)
- 'प्रसाद' की पद्धति हिन्दी के नाटक-क्षेत्र में अब मर चुकी है। इतना अवश्य है कि नाटकों में माँ के लिए ममी और बाप के लिए पापा भी लिखा जाने लगा। अमेरिका के 'क्राइम ड्रामा' का भी प्रभाव हिन्दी नाटकों पर पड़ने लगा है। इसका कारण केवल पश्चिम का प्रभाव नहीं, संस्कृत-साहित्य से परिचित न होना भी है। नये वस्त्रों में कोट, पैण्ट और टाई में भी जिस प्रकार अभी तक भारतीय हैं, उसी प्रकार साहित्य में नये रूपों में भी अच्छा होगा कि हम भारतीय बने रहें। साहित्य में व्यक्तिवादी या अस्तित्ववादी बनकर उन मनोवेगों को न धरें जिनसे प्रभावित होकर हमारे किशोर स्वप्न के पंखों पर उड़ते रहते हैं, जिनको दबा देने में हमारा संयम है, पर जिनमें बह जाना ही हमारा और हमारी कला का पतन भी है।

  कीचड़ के कमल की तरह काम-भावना में ही कला का जन्म होता है। काम की कलियों में ही कला के फूल आते हैं। कला और रति-कामना एक ही साथ व्यक्ति की किशोरावस्था में पैदा होती हैं। इनकी जानकारी हमारे पुराने कवियों को थी। इसलिये वे साहित्य में व्यक्तिवादी नहीं रहे, इसलिए वे साहित्य और कला के क्षेत्र में अनासक्त रहे। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास के साहित्य में उनके व्यक्ति की आसक्ति नहीं है। पर 'प्रसाद' और इस युग के बड़े-से-बड़े साहित्यकार के साहित्य में यही पश्चिम का प्रभाव है और इसी से अब हमें बचना है। (*मुक्ति का रहस्य*, द्वितीय संस्करण की भूमिका, संवत् 2007 विक्रम)
- आर्य-समाज अपनी धरती पर खड़ा हो रहा है। जैसा हम अपने शरीर का संस्कार करते हैं, उसी तरह आर्य-समाज हमारे धर्म का संस्कार कर रहा है। उसमें परिवर्तन की शक्ति फूट रही है, अनुकरण की नहीं। ब्रह्मसमाज हमें अँग्रेज़ बनाना चाहता है, पर आर्य-समाज संसार-भर में अपनी जातीय प्रतिष्ठा बना रहा है। अँग्रेज़ हम कभी नहीं बनेंगे। (*कवि भारतेन्दु*, तीसरा अंक)
- भगवती पार्वती और भगवती भारत-भूमि मेरे लिए दोनों एक हैं। आपका केरल उस भगवती का एक चरण है, दूसरा चरण चोल है, कटि पर विन्ध्यमेखला, भुजाएँ सिन्धुभूमि और कामरूप, मध्यप्रदेश उदर-वक्ष और

कैलाश शीश है। माता के मोहक रूप में जिसके हृदय के सब ओर अमृत है, हम सब श्रद्धावान् हों। उसके एक अंग की सेवा न कर समूचे शरीर की सेवा करें, तभी हम उसके ऋण से मुक्त हो सकेंगे। इसी रूप के अनुराग में ही घर से निकला था। वेद के मंत्र जहाँ गाये गये, उपनिषद् का रस जहाँ बरसा, ऋषियों के आश्रम जिस भूमि पर बने थे। (*जगद्गुरु* नाटक, तीसरे अंक में आचार्य शंकर के उद्गार)

- देवता का काव्य यह सृष्टि है कही गयी
ओर छोर जिसका नहीं है श्रुतिवाणी में
जरा और मृत्यु से इन दोनों से परे है जो
जरा और मृत्यु से परे है जिस भूमि के
कवियों का कवि-कर्म मैं भी उसी भूमि का
पुत्र हूँ। विदेश की विडम्बना मिटानी है
जिसमें विचार मिथ्या देते कविजन हैं
अब इस देश के भी छोड़ तत्त्व-बोध को।
सृष्टि-धर्म वर्णन की शक्ति जिनमें नहीं
भ्रम में विचारों की भँवर वे बनाते हैं।
(*कालजयी*, नवाँ सर्ग के अन्त में कवि का कथन)

- अँग्रेज़ी क्यों ?

अँग्रेज़ी इस देश के लिए इसलिए नहीं चलाई जा रही है कि बिना इसके हमारी नाव डूब जायेगी, हम संसार के देशों में वैज्ञानिक कार्यों में पिछड़ जाएँगे, बल्कि हमें संस्कारहीन करने के लिए यह भाषा पढ़ायी जा रही है। हमारा स्वभाव बन गया है कि बिना दूसरे के सहारे हम चल ही नहीं सकते। कुछ लोग जो लोकसेवा आयोगों की अप्राकृतिक नौकरियों और उनसे प्राप्त विशेषताओं के अभ्यस्त हो चुके हैं, वे जनभाषा से दूर रहेंगे–नहीं तो उन्हें जनता के समान खड़ा होना पड़ेगा। यह उन्हें स्वीकार नहीं है और जो हमारे शासक बन गये हैं उनके सहयोग में भी अपनी विशेषता रख सकेंगे। यदि आज राष्ट्रपिता गाँधी जीवित होते तो अपनी भाषा के प्रेमी जब विधान-सभा से घसीटकर बाहर किये जाते, तब वे इस कारण भी अनशन आरम्भ कर दिये होते, पर वह नहीं हैं और इसलिए नहीं हैं कि डेढ़ सौ वर्षों से विदेशी साहित्य का जो प्रभाव हमारे चरित्र पर पड़ा, वही प्रभाव उनको ले गया। (24 अगस्त 1964 के *आज* वाराणसी के अंक में प्रकाशित मिश्र जी के लेख–हिन्दी : गंगा की भूमि में–का एक अंश। यह लेख मिश्र जी ने उस

समय लिखा था, जब 17 अगस्त 1964 के दिन उत्तरप्रदेश की विधान-सभा में काँग्रेस सरकार द्वारा अँग्रेज़ी के प्रयोग की अवधि आगे जारी रखने के प्रस्ताव का विरोध करने पर विपक्ष के सदस्यों को विधान सभा से घसीट कर बाहर किया गया था)

मिश्र जी का वाल्मीकि-प्रेम

सन् 1956 की बात है। मेरा पहला खंडकाव्य *आंजनेय* प्रकाशित होने जा रहा था। उसके छपे फर्मे लेकर मैं मिश्र जी के पास उस पर दो शब्द लिखाने के लिए गया। उन्होंने दो दिन बाद बुलाया। मैं गया तो 'विभूति धारणा' शीर्षक से खण्डकाव्य की भूमिका लिखी हुई मिल गयी। खण्डकाव्य पढ़कर मिश्र जी ने प्रसन्नता व्यक्त की। इस प्रसन्नता का कारण था कि काव्य वाल्मीकि रामायण को ही आधार बनाकर लिखा गया था और काव्य में उपमावाची (समानता) के अर्थ में 'संकाश' शब्द का प्रयोग हुआ था, जिसका प्रयोग कवि वाल्मीकि ने प्रायः किया है। इस शब्द का प्रयोग देखकर मिश्र जी न केवल प्रसन्न हुए, प्रभावित भी हुए, उन्होंने मुझे मुक्त-हृदय से आशीर्वाद दिया। भूमिका में लिखा—''वात्याचक्र कवि को प्रसाद से मिला तो 'संकाश' वाल्मीकि से, और यह संयोग सोने में सुगन्ध का संयोग है। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' में कवि ब्रह्म के उस रूप का बोधक है जो सृष्टि की रचना करता है। *आंजनेय* के शून्य सर्ग में कवि ने विचार रूप में इस तत्त्व की स्थापना की है। भाव रूप में कर पाता, तब वाल्मीकि का ऋण भर जाता।''

सुभाषित

मिश्र जी के नाटकों में तथा काव्य में यत्र-तत्र अनुभव, लोक-व्यवहार तथा चिन्तन के अनमोल वाक्यों का प्रयोग हुआ है, ऐसे कुछ सुभाषित यहाँ दिये जाते हैं—

सिद्ध तुमने है किया निश्चय ही नर का
पौरुष है पूज्य, जन्म-दोष मिट जाता है
कर्म की विभूति से। (*कालजयी,* सर्ग 5)

पुरुष पौरुष-हीन रहकर किसी भी दूसरे गुण से पूज्य नहीं हो सकता।

(*नारद की वीणा,* पहला अंक)

प्रकृति में तप और युद्ध साथ-साथ लगे हैं। प्रकृति में जो केवल युद्ध देखते हैं हिंसक हैं और जो केवल तप देखते हैं कायर हैं। हमने प्रकृति में केवल तप देखा, इसीलिए ये यायावर आज हमारे प्रभु बन रहे हैं। पूर्वजों की इस

भूल का फल हमने भोग लिया। (*नारद की वीणा*, दूसरा अंक)
नारी अपने रहस्य में ही जीती है। (*नारद की वाणी*, तीसरा अंक)
मनुष्य अपने कर्म और निर्माण में अमर है। (*वत्सराज*, दूसरा अंक)
स्वाधीनता के बिना धर्म नहीं टिकता। (*वितस्ता की लहरें*)
विद्या का धर्म विनय और बल का धर्म शील है। (*वितस्ता की लहरें*)
प्रकृति जिसे पराजित करती है, उसे क्रोध देती है। (*नारद की वीणा*)
विपत्ति में भी महान् महान् ही रहता है। (*वितस्ता की लहरें*)
नारी के जन्म के साथ असत् का भी जन्म होता है। (*वितस्ता की लहरें*)
जीवन में जब गोपनीय को अधिक अवसर मिलने लगता है, समाज के प्रति विद्रोह की भावना भी व्यक्ति के भीतर बढ़ने लगती है। (*नारद की वीणा*)
हर ध्वंस में निर्माण के और हर प्रलय में सृष्टि के बीज पड़ते हैं। (*वितस्ता की लहरें*)
मनुष्य अपने कर्म और निर्माण में अमर है। (*वत्सराज*)
मानव मृत्युंजय बना है कीर्ति धन से। (*कालजयी*, सर्ग 3)
नर और नारी के प्रेम में प्रकृति की पूर्णता है। (*वत्सराज*)
प्रेम सम्मोहन नहीं कर्त्तव्य भी है। (*वत्सराज*)
धरती वही जीत सकता है, जो पहले रमणी को जीत ले। (*वत्सराज*)
सरस्वती की दृष्टि पड़ने का फल घर-बार छोड़कर एकान्तसेवी बनना होता है। (*वैशाली में वसन्त*)
आयु की चिन्ता विद्या नहीं करती। (*चक्रव्यूह*)
शस्त्र और शास्त्र बराबर लोकधर्म की दोनों बाहें या दो आँखें रहे हैं। (*चक्रव्यूह*)
काल की दुर्निवार गति में किसी का वश नहीं है। (*जगद्गुरु*)
कोई किसी के साथ अपराध नहीं करता। सभी अपनी आत्मा के साथ अपराध करते हैं। (*जगद्गुरु*)
स्वतन्त्र स्त्रीत्व, आज दिन के नये विचार, जो संसार को एकदम स्वर्ग बना देना चाहते हैं। उनमें से एक है। (*सिन्दूर की होली*)
प्लेटो के प्रजातन्त्र में कवि को कोई स्थान नहीं मिला था...स्त्री के प्रेम-तन्त्र में बुद्धि और ज्ञान को कोई स्थान नहीं मिला है। (*सिन्दूर की होली*)

आलंकारिक सूक्तियाँ

मिश्र जी के नाटकों और महाकाव्य के परिचय में उनके नाट्यशिल्प, कथा-योजना तथा प्रबन्ध में ओतप्रोत कथारस का परिचय पीछे के अध्यायों में दिया जा चुका है, उनकी भाषा सुगम है तथा वह उन शब्द-शक्तियों से भरपूर है, जिनकी उपस्थिति से अर्थ का चमत्कार और भाव-बोध का सुस्पंद प्रकट होता रहता है। उनकी भाषा में कृत्रिमता नहीं है और न ही उसे पेशल बनाने के लिए वाक्य-विन्यास तथा पदों को गढ़ा गया है। मिश्र जी प्रायः स्वाभाविक और व्यवहार की भाषा का प्रयोग करते हैं, जो पढ़नेवाले या सुननेवाले पर तत्काल प्रभाव डालती है। इसको व्यास शैली कहते है। इस व्यास शैली के अन्तराल में उनकी रचना का मार्ग भाषा और अर्थ के विविध लालित्य से युक्त है, प्राचीन काव्य-शास्त्रियों के अनुसार उसको वैदर्भ या सुकुमार मार्ग कहते हैं।

वाक्य-विन्यास, वचन-भंगिमा और कथा के मार्मिक स्थलों की अवतारणा—इन सबमें भाषा का स्वाभाविक प्रवाह मुख्य कारण होता है। ये सभी विशेषताएँ कवि की लालित्य योजना के अंतर्गत आती हैं, जिनसे रचना और वस्तु का सौन्दर्य प्रकट होता है। इस सौन्दर्य में वचन-भंगिमा के अन्तर्गत अलंकारों की उद्‌भावना का भी विशेष स्थान है। अलंकार वस्तुतः प्रकृत अर्थ में प्रयुक्त होकर संदर्भ, अर्थ और भाव-बोध सभी को मनोहारी बना देते हैं। मिश्र जी की रचनाओं में ऐसे अलंकारों का प्रयोग प्रायः हुआ है। *कालजयी* महाकाव्य का परिचय देते हुए चौथे अध्याय के अन्त में ऐसी अलंकृत उक्तियों को उद्धृत किया गया है। नाटकों में भी मंजुल अलंकृत-उक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं। दिग्दर्शन मात्र के लिए यहाँ कुछ को उद्धृत किया जाता है—

उपमा

(1) उसका वह हंसना उसकी रतनार आँखें लम्बी-लम्बी, पलभर में उसकी नज़र कमरे में चारों ओर दौड़ गयी, उसका हँसना तो जैसे एक साथ जूही के असंख्य फूलों का बरस पड़ना था। (*सिन्दूर की होली*)
यहाँ युवक रजनीकांत के हँसने की उपमा एक साथ खिले जूही के फूलों से दी गयी है।

(2) भोर के चन्द्रमा-सी पुत्र की माता चली आ रही है क्या कहना होगा वासुदेव ! (*चक्रव्यूह*)
अभिमन्यु के मारे जाने के दिन सायं शिविर की ओर परिक्लान्त सुभ्रदा को आता देखकर अर्जुन का कथन कृष्ण के प्रति।

रूपक

(1) **रोष की लपट फेंक वोला द्रौणि, सिंह की**
दारुण गुफा में कहाँ आता बालमृग है। (*कालजयी*)
(अश्वत्थामा युद्ध-भूमि में मलयकेतु को चेतावनी दे रहा है।) यहाँ रोष की लपट, दारुण गुफा और बालमृग में रूपक है।

(2) **हीन यह सेना हीन पुत्र सखे पाण्डु के**
पार करते क्या कभी भीष्म-शर-सिन्धु को !
बनते न पोत यदि तुम जो निमेष में
डूब यह जाती चतुरंगिणी अतल में।
किंवा भस्मसात् होती अग्नि जब द्रोण की
दारुण जली थी, जलती थी धरा जिसमें। (*कालजयी*, सर्ग 2)

रूपकातिशयोक्ति

(1) दो नदियों के मिलने से पहले संघर्ष होता है, फिर एक धार हो जाती है। (*नारद की वीणा*)
(दो संस्कृतियों के संघट्ट के अनन्तर एक नयी संस्कृति का आविर्भाव होता है—इस उपमेय का निगरणकर उक्त वाक्य में केवल उपमान का कथन है।)

(2) **...काटे ओठ दाँत से**
दानवी ने आँखें मूँद, किन्तु पल भर में
देखने लगी जो निर्निमेष, पद्मराग से
चूने लगे मोती श्वेत, इन्द्र नीलमणि के
मंजुल कपोल सजे मोतियों की माला से।

भीम की दानवी पत्नी हिडिम्बा युद्ध में महारथी कर्ण का भय सुनकर पति और उनके भाइयों की चिन्ता में दुःखी है। स्वयं युद्ध करने को सोच रही है। वेदना से उसकी आँखों से आँसू गिर रहे हैं। शरीर से वह काली है। पूर्वार्ध में रूपकातिशयोक्ति और उत्तरार्ध में रूपक है। लाल आँखें पद्मराग हैं, आँसू मोती हैं। कपोल इन्द्रनीलमणि है, उस पर आँसू मोतियों की माला है। यहाँ पर कवि ने नारी के विषादपूर्ण मुखमंडल का अच्छा बिम्ब-चित्र चित्रित किया है।

निदर्शना

> 'स्वप्न देखते हो गुरुपुत्र ! हिमकर से
> चूती कभी अग्नि या कि दिनमणि से कभी
> होता है अँधेरा ?' अंगराज कहने लगा
> प्राणभय होगा कुरुराज को ? जलधि-क्या
> सूखेगा निदाघ में ? (*कालजयी,* पहला सर्ग)

(कर्ण अश्वत्थामा से सुयोधन के निर्भय मन की प्रशंसा कर रहा है।)

परिसंख्या

उल्लेख और उपमा अलंकारों से अन्तर्गर्भित परिसंख्या अलंकार की उक्ति—

> किसे दूर हटना है देह या देही को ? एक अन्नमय दूसरे अन्नमय से भिन्न है अथवा एक साक्षी दूसरे साक्षी से भिन्न है ? एक साथ गंगा और मदिरा पात्र में प्रतिबिम्बित होनेवाला सूर्य एक ही है या दो है ?
>
> (*जगद्गुरु,* दूसरा अंक)

काशी में चाण्डाल वेषधारी भूतनाथ शिव आचार्य शंकर द्वारा हटने का निर्देश देने पर उनसे प्रश्न कर रहे हैं, एक ही बात का कई तरह से कहा जाना उल्लेख अलंकार है तथा अंतिम वाक्य में सर्वत्र व्याप्त आत्मा की समानता एक साथ सर्वत्र प्रतिबिम्बित सूर्य से की गयी है, यह उपमा अलंकार है। पूरा कथन प्रश्नपूर्वक विरोध में परिसंख्या अलंकार है।

उत्प्रेक्षा

नीचे की पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार की कल्पना है। कवि ने मन के भाव-व्यापार का उदाहरण प्रस्तुत किया है, मन की अपनी ऐसी विराट् सृष्टि होती है, जिसमें वह स्वयं डूबकर वह जाता है, वह दृश्य कैसा होता होगा ? मोहक और सृष्टि की आकुलता का यह वस्तु-सौन्दर्य इस उक्ति में है। प्रसंग है, कवि *महाभारत*-रचयिता व्यास से स्वयं के कवि बनने की कामना कर रहा है—

> आज महिमा के सिन्धु व्यास देव ! दास मैं
> मन्दमति, हीननर, कामना में कवि की
> आया हूँ तुम्हारे सृष्टि-सिन्धु के किनारे...
> ...मायाविनी आशा इस जन को
> ऐसे है हिलाती कि ज्यों घोर वर्षा-काल में

सरिता हिलाती तृण-जाल है सलिल में।
विश्व हँस देगा देख दास के प्रयास को
साहस को आज इस क्षुद्रजीवी नर के।

(*कालजयी*, प्रारंभ की पंक्तियाँ)

कवि के मन की आशा ने विराट् मायाविनी का रूप धारण किया है, वह अपने ही कल्पक मन को हिलाकर दुलार रही है, मन अपनी ही कल्पित आशा के वेग में कितना छोटा हो जाता है इसका ठीक निरूपण मनोवैज्ञानिक भी नहीं कर सकता। पर यहाँ कवि ने आशा के कल्पित वस्तु-जगत् का सहज, यथार्थ और मोहक चित्र खींच दिया है। कहता है मन की प्रचंड आशा उसे ऐसे दुलार रही है मानो घोर वर्षा-काल में प्रवाहित नदी के धारा-जल में तृण की पंक्तियाँ हिल रही हों, धारा का जल तृण को हिलाता दुलराता हो। उत्प्रेक्षा(अप्रस्तुत उपमान) द्वारा मन की आशा का कितना ही सहज और यथार्थ चित्रण किया गया है। आशा नदी है, मन तृण-जाल।

कथारस और अलंकार

कालजयी महाकाव्य में अलंकारों की योजना कथारस के प्रवाह में जल के आवर्त के समान आती गयी है, जिससे प्रस्तुत-अप्रस्तुत वस्तुओं का विधान तथा भावबोध का सौन्दर्य मनोज्ञ हो जाता है, नीचे की उद्धृत पंक्तियों में अलंकृत उक्तियों में ही सारी कथा कही जाती है, इसका प्रसंग है, युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में कृष्ण द्वारा सहसा शिशुपाल का शिर चक्र द्वारा काट देना—

..........तत्क्षणही व्योम में
फूटी अग्नि आभा, झपी पलकें, खुलीं जब वे
देखा भूमि लुंठित था शीश शिशुपाल का।
काँप उठी सारी सभा विस्मय से भय से
नीचे झुका शीश धर्मधारी धर्मराज का।
वात बिगड़ी थी, जो न होते पितामह तो
निश्चय था होती क्रान्ति और रक्तधारा से
बुझती हविष्य अग्नि साम, दाम, भेद से
शान्त कर क्रोधानल, शिष्टाचार वारि से
बोध नृप-वर्ग का किया था यज्ञभूमि में
तात देवव्रत ने बचायी धर्मसुत की

लोकलाज, धर्मलाज, बदला उसी का तो
उनको मिला है इस रण में शिखंडी से। (*कालजयी*, पहला सर्ग)

इन पंक्तियों में कई अलंकार क्रमशः अपने आप अवतरित होते गये हैं— पहले की तीन पंक्तियों में स्वभावोक्ति, 'शीश झुका...धर्मराज का' में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि, 'बुझती हविष्य अग्नि' में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि, 'शिष्टाचार वारि से' में रूपक, और 'बचायी धर्मसुत की लोकलाज धर्मलाज बदला उसी का...रण में शिखंडी से' में विषम अलंकार है। ये सभी अलंकार राजसूय यज्ञ और युद्ध के वर्णन में कथा-रस की तरंगों में प्रकट होते काव्य-सौंदर्य हैं।

समासोक्ति और पर्यायोक्त से समन्वित अलंकृत वाक्य का रमणीय निबन्धन नीचे की उक्ति में है। प्रसंग है—चिन्ताकुल पाण्डवों के शिविर में कृष्ण ने बोलना आरम्भ किया, उनकी वाणी ग्रीष्म से तप्त धरती पर मेघ-वर्षा के समान है, जो ताप-सन्ताप का हरण कर लेती है, महाभारत में कृष्ण की वाणी की उपमा मेघ के गम्भीर गर्जन से दी गयी है—

श्याम घन घोष करता हो ग्रीष्म सन्ध्या में
पश्चिम गगन में गम्भीर धीर ध्वनि हो
पावस की सूचना-सी, लोक ताप हारिणी
आयी ध्वनि। रुक्मिणी-विनोदी कहने लगा (*कालजयी*, दूसरा सर्ग)

श्याम 'घनघोष' से 'आयी ध्वनि' तक के वाक्यों में समासोक्ति अलंकार तथा इस कथन का पर्याय अन्तिम वाक्य 'रुक्मिणी विनोदी कहने लगा' में पर्यायोक्ति है। दोनों अलंकृत वाक्य 'चिन्ता' की कथा-रसधारा में तेज़ी ला देते हैं।

अन्तर्जगत् गीति-काव्य के निम्न छन्द में रूपकालंकार में कवि ने जगत् और जीवन की जटिलता का सरलतम आख्यान किया है, जिसमें ऊपर सतत् गतिमान् कालचक्र है और नीचे जीवन की अनन्त संवेदनाओं का समुद्र गर्जन कर रहा है—

जीवन-सागर के उस तट पर अपने सुन्दर जग की
सृष्टि अनोखी की है तूने जहाँ न रेखा मग की
नीचे सिन्धु भर रहा आहें हँसते नखत गगन में
सब से दूर जल रहा दीपक तेरे भव्य भवन में (अन्तर्जगत् छन्द 25)

जीवन समुद्र है वह अपनी संवेदनाओं में अनन्त और अथाह है, उसकी गर्जना से सारा जगत् आन्दोलित है। नक्षत्र गतिमान् काल का प्रतीक हैं, जो जीवन-समुद्र की गर्जनाओं (संवेदनाओं के हाहाकारों) को सुनकर हँस रहे हैं, हँस इसलिए रहे हैं कि संवेदनाओं का हाहाकार चेतना के जिस दीपक के लिए हो रहा

है, वह पहुँच से बहुत दूर किसी भव्य लोक में प्रकाशित है और गर्जना भरी लहरें उसे छू नहीं सकतीं। वहाँ सीधे पहुँचने का कोई रास्ता नहीं है। कवि ने यह अर्थ-निबन्धन रूपकालंकार की उक्ति में किया है और भाव-बोध लक्षणा शक्ति पर आधृत है। हँसते नखत गगन में, यह वाक्य लक्षणा शक्ति और तात्पर्य शक्ति का सीधा-सादा अनोखा उदाहरण है। नक्षत्रों से ही काल-गणना होती है। सूर्य और चन्द्रमा की गति का आकलन नक्षत्रों पर उनकी क्रान्ति से ही किया जाता है। सूर्य एक नक्षत्र पर पन्द्रह दिन रहता है। चन्द्रमा एक दिन रहता है। अलग-अलग लोकों में समय की सीमा किस प्रकार विस्तृत और संकुचित होती है, इसका यह उदाहरण है। सप्तर्षि एक नक्षत्र पर साढ़े नौ सौ वर्ष रहते हैं। इसी प्रकार अन्य तारों की क्रान्ति का भी विभिन्न लेखा-जोखा होगा। तात्पर्य यह है कि जीवन अपनी संवेदनाओं में असीम समुद्र है, किन्तु नक्षत्र (काल) तो असीम से असीम हैं और वे संवेदना के इस समुद्र पर हँस रहे हैं, नक्षत्र इसलिए भी हँस रहे हैं कि संवेदनाएँ जिस हेतु से उमड़ रही हैं, प्रकाश का वह ज्योति-दीप उनकी पहुँच से बहुत दूर है, कदाचित् वे उसे कभी छू नहीं सकतीं। अलंकृत उक्ति के माध्यम से गूढ़तम अर्थ की यह सरल अभिव्यक्ति है।

रचना-सूची

महाकाव्य

1.कालजयी

सामाजिक नाटक

2. संन्यासी
3. मुक्ति का रहस्य
4. राक्षस का मन्दिर
5. राजयोग
6. सिन्दूर की होली
7. आधी रात

सांस्कृतिक
एवं ऐतिहासिक नाटक

8. गरुड़ध्वज
9. वत्सराज
10. दशाश्वमेध
11. वितस्ता की लहरें
12. वैशाली में वसन्त
13. जगद्गुरु
14. धरती का हृदय
15. सरयू की धार

पौराणिक

16. नारद की वीणा
17. चक्रव्यूह
18. चित्रकूट
19. अपराजित
20. अश्वमेध
21. प्रतिज्ञा का भोग

व्यक्तिपरक नाटक

22. कवि भारतेन्दु
23. मृत्युञ्जय

इतर विषय

24. कल्पतरु

एकांकी-संग्रह

25. अशोक वन
26. प्रलय के पंख पर
27. भगवान् मनु तथा अन्य एकांकी
28. कावेरी में कमल
29. स्वर्ग में विप्लव
30. नारी का रंग
31. बाल एकांकी

प्रारम्भिक कृतियाँ

32. अन्तर्जगत् (गीति काव्य)
33. अशोक (नाटक)

अनूदित

1. समाज के स्तम्भ
2. गुड़िया का घर

(अंग्रेज़ी के नाटककार इब्सन के 'पिलर ऑफ़ दि सोसाइटी' और 'डॉल्स हाउस' नाटकों के अनुवाद)

सन्दर्भ-ग्रन्थ

अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के बम्बई अधिवेशन संवत् 2006 (1949 ई.) की साहित्य परिषद् का अध्यक्षीय भाषण।

अभिनव नाट्यशास्त्र–पं. सीताराम चतुर्वेदी

आधुनिक हिन्दी-नाटक–डॉ. नगेन्द्र

उत्तर प्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन वाराणसी, अधिवेशन की साहित्य-परिषद् का उद्घाटन भाषण, 1961 ई.

कसौटी पर–डॉ. भगवतशरण उपाध्याय

देवीभागवत पुराण

नाट्यशास्त्र–भरतमुनि

महाभारत–महर्षि व्यास (गीता प्रेस गोरखपुर का संस्करण)

साहित्य एवं शोध : कुछ समस्याएँ–डॉ. देवराज उपाध्याय

साहित्य और कला–डॉ. भगवतशरण उपाध्याय

साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन–डॉ. देवराज उपाध्याय

साहित्य में क्षत्रज्ञ–डॉ. जयशंकर त्रिपाठी

सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ–संपादक डॉ. नगेन्द्र

हिन्दी नाट्य-चिन्तन–श्री शिखरचन्द्र जैन

हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग (नागरी प्रचारिणी सभा काशी, वाराणसी)

हिन्दी नाटक साहित्य के क्षेत्र में अपने उल्लेखनीय योगदान के लिए सुपरिचित **पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र** का जन्म 18 दिसम्बर 1903 ई. को (पौष शुक्ल। संवत् 1960) आज़मगढ़ ज़िले के बस्ती गाँव में हुआ। आजकल यह मऊ जनपद कहलाता है। मिश्र जी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही हुई। बाद में वे उच्च शिक्षा के लिए इलाहाबाद और काशी गये। उन्होंने बी.ए. की परीक्षा काशी विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की। वे अपने छात्र जीवन से ही कविता तथा नाटक लिखने लगे थे। उस समय के प्रसिद्ध साहित्यकारों के सान्निध्य में रहकर उन्होंने साहित्य-साधना शुरू की और बाद में विधि-शास्त्र का अध्ययन करने इलाहाबाद आ गये। वर्ष 1929 और 1934 के बीच उनके *राजयोग* और *सिन्दूर की होली* नाटक प्रकाशित हुए जिनसे हिन्दी नाट्य-जगत में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी। उनके कुछ और प्रसिद्ध नाटकों में *गरुड़ध्वज* और *नारद की वीणा* विशेष चर्चित हुए। उन्होंने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में हिस्सा लिया और कारा यातना भी सही। मिश्र जी ने भारतीय आख्यान परम्परा को आधुनिक सन्दर्भों से जोड़ते हुए अपने नाटकों में इस तरह पिरोया कि उनके बहुत-से पात्र और प्रसंग भारतीय अस्मिता के प्रवक्ता और प्रस्थान-बिन्दु बन गये। उन्होंने पच्चीस से अधिक सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक तथा व्यक्तिपरक नाटकों की रचना की और कई एकांकी संग्रहों के अलावा गीति-काव्य और कर्ण के व्यक्तित्व पर आधारित महाकाव्य *कालजयी* का प्रणयन भी किया। *राक्षस का मन्दिर, अश्वमेध, दशाश्वमेध* और *अपराजित* उनके अन्य प्रसिद्ध नाटक हैं। उनका निधन 19 अगस्त 1987 को वाराणसी में हुआ।

प्रस्तुत विनिबन्ध में **डॉ. जयशंकर त्रिपाठी** ने लक्ष्मीनारायण मिश्र के सम्पूर्ण कृतित्व का विस्तार से आकलन, विवेचन एवं मूल्यांकन किया है। आपने काव्य, निबन्ध, नाटक और साहित्यालोचन के क्षेत्र में कई पुस्तकें लिखी हैं। आप कई संस्थाओं द्वारा विभिन्न साहित्य पुरस्कारों से सम्मानित भी हैं।

पच्चीस रुपये

रेखाचित्र : सुरेन्द्रपाल सिंह

ISBN : 81-260-0508-4